सत्यमेव जयते

भारत का वि'ध आयोग

ग्राम न्यायालयों

के संबध में

एक सौ चौदहवी रिपोर्ट

अगस्त, 1986

श्री अशोक कुमार सेन,
विधि एवं न्याय मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली।

12 अगस्त, 1986

प्रिय विधि एवं न्याय मंत्री,

मुझे वर्तमान विधि आयोग की मूल स्थान में ही विवादों के निपटारों के लिये वैकल्पिक पीठ विषय पर प्रथम रिपोर्ट (विधि आयोग की एक सौ चौदहवीं रिपोर्ट) अग्रेषित करने में प्रसन्नता हो रही है।

वर्तमान विधि आयोग जो वास्तविक कार्य 1 सितम्बर, 1985 से करना प्रारम्भ किया है। इसके विचारणीयविषयों पर ध्यान रखकर तत्कालीन विधि आयोग के सदस्यों द्वारा निश्चय किया गया था कि न्यायालयों में बढ़ती हुई पिछड़े मुकदमों की संख्या के प्रश्न को हल करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाये। यह दो तरफा अभियान था। एक तो था भारतीय संविधान की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत किसी सहभागी पीठ की व्यवस्था करना और दूसरा था—न्यायालयों में एकत्र और सदा वृद्धिगत मुकदमों की बकाया पर इसके संघात का अध्ययन करना।

रिपोर्ट के अध्ययन के दौरान आपको पता लगेगा कि एक व्यापक आधार पत्र जारी किया गया था और राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा चलायी गयी थी। इसी बीच आपने अपने दिनांक 17 फरवरी, 1986 के पत्र द्वारा विधि आयोग को सूचित किया था कि वर्तमान विधि आयोग को न्यायिक सुधारों को सुझाने का कार्य भारत सरकार द्वारा सौंपा जाना है। प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग के लिये व्यापक विचारणीय विषयों की सूची आपके पत्र के साथ संलग्न थी। न्यायिक सुधार के लिये विचारणीय विषय और विधि आयोग के समक्ष प्रथम विचारणीय विषय करीब-करीब एक ही जैसे थे। अतः आयोग ने अपने द्वारा जारी आधार पत्र पर जांच और कार्यों को रोका नहीं। अतः मुझे अब रिपोर्ट अग्रेषित करने में अत्यन्त प्रसन्नता है।

इसे तैयार करने और भेजने में निःसंदेह कुछ देरी हो गई है। विधि आयोग की एक अन्तिम कार्य सूची थी और यह आशा की गयी थी कि जून के अन्त तक या देर से देर जुलाई के मध्य तक रिपोर्ट दे दी जायेगी। किन्तु जैसा कि आप जानते ही हैं कि मुझे पंजाब समझौते की धारा 7.2 के अनुसार कुछ क्षेत्रों को पहचानने और विनिर्दिष्ट करने का कार्य उच्च विधिक न्यायायिक प्राधिकरण के रूप में सौंप दिया था परिणामतः विधि आयोग के कार्यक्रम एक माह से भी अधिक समय के लिये अस्त-व्यस्त हो गये थे। इससे भी बचा जा सकता था यदि विधि आयोग की निहित सदस्यता पूर्ण होती। सदस्य-सचिव के अतिरिक्त मैं ही केवल पूर्णकालिक सदस्य हूं। अतः यह देर हुई।

मैं आशा करता हूं कि यह रिपोर्ट संसद् के समक्ष शीघ्र रखी जायेगी और मुद्रित कर प्रकाशित कर दी जायेगी, जिससे इसे कार्यरूप देने के लिये समीचीन पग उठाये जा सकें।

सादर!

संलग्न : रिपोर्ट

आपका
(डी० ए० देसाई)

विषय सूची

		पृष्ठ
अध्याय—1	संविधान और भारत के विधि आयोग के विचारणीय विषय	1
अध्याय—2	पन्द्रहवें विधि आयोग की समयता पूर्ण पहुंच	4
अध्याय—3	आधार पत्र में दिया हुआ पहुंच मार्ग	7
अध्याय—4	आधार पत्र के उत्तरों की सामान्य विशेषताएँ	12
अध्याय—5	कतिपय प्रारूपित प्रस्तावों की आलोचनात्मक चर्चाओं का परीक्षण और विश्लेषण	16
अध्याय—6	अधिकारिता, शक्ति आदि के प्रश्नों का आलोचनात्मक परीक्षण	28
अध्याय—7	निष्कर्ष	49
परिशिष्ट—1	आधार पत्र	51
परिशिष्ट—2	कार्यशालाओं के स्थान, उनकी तिथियां और उनमें भाग लेने वालों की सूची	70
परिशिष्ट—3	राज्य सरकारों, उच्च न्यायालयों संघटनों या अन्य निकायों तथा व्यक्तियों के उत्तर	77

अध्याय 1

भारत के विधि आयोग का गठन और उसके विचारणीय विषय

विधि आयोग के विचारणीय विषय

1.1 ग्यारहवें विधि आयोग का गठन 1 सितम्बर, 1985 को निम्नलिखित विचारणीय विषयों के साथ किया गया था।

1. न्यायिक प्रशासन की प्रणाली का पुनर्विलोकन करते रहने के लिए जिससे समय की औचित्य पूर्ण मांग के प्रति यह उत्तरदायी रह सके और विशेषत:

   क. देरी की समाप्ति, बकाया मुकदमों का जल्द निपटान और खर्च में कमी की जा सके जिससे बिना मूलभूत सिद्धान्तों को प्रभावित किये मुकदमों का जल्द और बिना अधिक खर्च किये निपटान किया जा सके तथा निर्णय भी न्याय पूर्ण और समीचीन हों।

   ख. प्रक्रिया का सरलीकरण और तकनीकियों और देर करने के तरीकों को समाप्त किया जा सके जिससे यह स्वयं में ही अन्त न हो वरन् न्याय प्राप्ति का एक साधन बन सके।

   ग. न्याय प्रशासन से संबंधित सभी के स्तरोन्नयन को सुनिश्चित किया जा सके।

2. वर्तमान कानूनों को राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के प्रकाश में परीक्षण करना और उनके सुधार के लिये तरीकों का सुझाव देना और सिद्धांतों को कार्यरूप देने के लिये यथावश्यक सुझाव देना, जिससे संविधान की उद्देशिका में उल्लिखित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

3. साधारण महत्व के केन्द्रीय अधिनियमों को पुनरीक्षित करना जिससे उनका सरलीकरण किया जा सके तथा विरोधाभास, संदिग्धता और विषमता भी दूर की जा सके।

4. सरकार को ऐसे उपायों का सुझाव देना जिनसे अप्रचलित कानूनों और अधिनियमों या उनके किसी भाग जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, को निरसित कर कानून को अद्यतन किया जा सके।

5. विधि से संबंधित किसी विषय या न्यायिक प्रशासन से संबंधित विषय जो इसको विचारार्थ दिये जायें उन पर विचार कर अपने मत से सरकार को अवगत कराना।

1.2 तदनन्तर 17 फरवरी, 1986 को प्रस्तावित न्यायिक सुधार आयोग को सुपुर्द किया जाने वाला कार्य विधि आयोग को सुपुर्द कर दिया गया। न्यायिक सुधार से सुसंगत विचारणीय विषय जिस पर विधि आयोग को कार्य करने के लिये आमंत्रित किया गया, निम्नस्थ हैं :—

1. न्यायिक प्रशासन की प्रणाली के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता जिसे :—

   क. विवादों के निर्णय के लिये ग्राम्य क्षेत्रों में न्याय पंचायतों की संस्था या अन्य मशीनरी की स्थापना, क्षेत्र विस्तार या सुदृढ़ीकरण के द्वारा;

   ख. उपर्युक्त क्षेत्रों या केन्द्रों में परिभाषित अधिकारिता के साथ सहभागी न्याय व्यवस्था को आरम्भ करने से;

   ग. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में काम के परिणाम को घटाने के लिये न्यायिक अनुग्रम के अन्तर्गत ही अन्य संस्थानों की स्थापना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

2. उन मामलों के लिये न्यायाधिकरणों (सेवाओं के लिये न्यायाधिकरणों को छोड़कर) जिनकी परिकल्पना संविधान के भाग 14क में की गई है, की स्थापना जल्द से जल्द करने की आवश्यकता और कार्यप्रणाली से संबंधित अनेक मामलों पर विचार करना।

3. कार्य प्रणाली संबंधी कानूनों जिससे वादों को साधारणतया जल्द निपटाया जा सके, अनावश्यक मुकदमेबाजी और वादों को सुनवाई में देरी ही समाप्ति हो तथा कार्य प्रणाली और तत्संबंधी कानूनों और विशेषत: 1(i) और 1(ii) में कल्पित विचारणीय विषयों के लिये उपयुक्त कार्य विधि निश्चित की जा सके।

4. अधीनस्थ न्यायालयों या अधीनस्थ न्यायपालिका में नियुक्तियों की पद्धति।

5. न्यायिक पदाधिकारियों का प्रशिक्षण।

6. न्यायिक प्रशासन की प्रणाली को सुदृढ़ करने में विधि व्यवसाय का योगदान।

7. ऐसे मापदंडों के निर्धारण का औचित्य जिसे शासन और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठान विवादों के निपटारे में पालन करें, जिसमें शासन और ऐसे प्रतिष्ठानों के द्वारा वादों के निपटारे में वर्तमान प्रणाली का पुनर्विलोकन भी सम्मिलित है।

8. मुकदमें के खर्चों में कमी जिससे वादकारी पर भार कम हो सके।

9. अखिल भारतीय न्यायिक सेवा का निर्माण का, और

10. उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अन्य ऐसे मामले जिसे आयोग उपर्युक्त और आवश्यक समझे शासन द्वारा समय-समय पर विचार के लिये भेजे जायें।

विधि आयोग का गठन और रचना।

1.3 दिनांक 1 सितम्बर, 1985 से 31 अगस्त, 1988 तक तीन वर्षों के लिये वर्तमान विधि आयोग का गठन किये जाने की अधिसूचना में प्रदत्त था कि ग्यारहवें विधि आयोग में (1) अध्यक्ष, (2) तीन पूर्णकालिक सदस्य, (3) सदस्य-सचिव, (4) विधायी विभाग का विशेष सचिव पदेन सदस्य, और (5) तीन या अधिक अल्प कालिक विशेषज्ञता प्राप्त सदस्य जिनकी संख्या आयोग को विचारार्थ विषयों की प्रकृति पर निर्भर होगी, होंगे। 2 सितम्बर, 1985 की अधिसूचना द्वारा अध्यक्ष के अतिरिक्त इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री के०एन०गोयल पूर्णकालिक सदस्य नियुक्त किये गये। सदस्य-सचिव और विशेष सचिव भी अधिसूचना द्वारा नियुक्त हुए। ये विधि मंत्रालय में स्थायी नियुक्तियों से संबंधित है। बाद में न्यायमूर्ति श्री के० एन० गोयल पूर्णकालिक सदस्य नहीं रहे। वह भी अंशकालिक सदस्य हो गये। विशेष सचिव का पद समाप्त कर दिया गया। अत: आयोग में अब अध्यक्ष के अतिरिक्त सचिव जो भारतीय विधि सेवा के संबंधित हैं, और एक अंशकालिक सदस्य भी हैं।

न्यायिक प्रशासन में सुधार।

1.4 इसके प्रथम विचारणीय विषय—"न्यायिक प्रशासन प्रणाली का समय की मांग के अनुसार उत्तरदायी होने के लिये पुनर्विलोकन करते रहने के लिये आयोग ने निश्चय किया कि न्यायिक प्रशासन में आधारभूत सुधार करने के प्रश्न को उच्चतम प्राथमिकता दी जाये। न्यायिक प्रशासन से संबंधित सभी व्यक्तियों को यह स्पष्ट दिखाई पड़ने वाली वर्तमान विक्षोभपूर्ण स्थिति अनेक से रचनात्मक परिवर्तन की मांग कर रही है। आयोग ने ग्राम्य निर्धनों को वर्तमान न्यायिक प्रणाली का शिकार माना है और तदनुसार ही अपनी कार्य सूची तैयार की है, जिसमें ग्रामीण निर्धनों को उच्चतम वरीयता दी गई है।

आयोग को पूर्व के दस विधि आयोगों के कार्य का शोध पूर्ण विश्लेषण डा० उपेन्द्र बक्षी की पुस्तक "दि क्राइसिस आफ़ द इंडियन लीगल सिस्टम"[1] के द्वारा प्राप्त होती है। इस विश्लेषण में उस समय प्रचलित कार्य प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। यह अनुभव किया

1. 1982 अध्याय 9, पृष्ठ 244 से 294।

कि विधि सुधार विधि आयोग के कार्यालय में कार्यरत कतिपय टेक्नोक्रेट लोगों का ही एकाधिकार नहीं है। इसे सहभागिता पर आधारित होना चाहिए। इस सहभागिता का विस्तार इतना अधिक होना चाहिए कि औपनवेसिक न्याय प्रणाली के भुक्तभोगी भी इसमें सम्मिलित हो सकें। औपनवेसिक न्याय प्रणाली बिल्कुल पिट चुकी है और सपाट हो गई है। अतएव आयोग का यह मत था कि इस न्याय प्रणाली में अनेक परिवर्तनों के संबंध में संस्तुति करने का निर्णय करने के पूर्व अधिक से अधिक जानकर लोगों से विचार-विमर्श करना चाहिए। अत: इसने एक प्रक्रिया अपनाने का निश्चय किया, जिसके द्वारा इसके विचारणीय विषय पर अधिकार पत्र तैयार किया गया और विधायी विभाग के राजभाषा खण्ड द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद किया गया। यह भी निश्चय किया कि बहुत सी चर्चायें विचार गोष्ठियां और कार्यशालायें आयोजित की जायें और विचारों को भी आमंत्रित किया जाये, जिससे यह प्रारूप पत्र को उचित ढंग से प्रस्तुत कर सकें। निचले स्तर पर कानून के व्यवसाय में लगे अधिवक्ताओं, अधीनस्थ (मातहत) न्यायालयों के न्यायाधिशों विधिज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को विनिर्दिष्ट रूप से निमंत्रण पत्र भेजे गये।

आधार पत्र का, प्रसारण।

1.5 विधि आयोग का मूल स्थान पर विवादों के निपटान के लिए वैकल्पिक पीठ पर आधार पत्र अनेक संघटनों और व्यक्तियों में प्रसारित किया गया जिससे उनका मत और उनकी टीकायें प्राप्त हो सकें। इसका अंग्रेजी पाठ इस रिपोर्ट का परिशिष्ट है। आधार पत्र का हिन्दी अनुवाद राजभाषा खंड द्वारा तैयार किया गया था और एक स्वयसेवी संस्था ने इसका तमिल अनुवाद भी प्रस्तुत किया। आयोग द्वारा प्रस्तुत आधार पत्र उच्चतम न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों और उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीशों भारतीय बार कौंसिल तथा प्रत्येक राज्य के बार कौंसिल के अध्यक्षों, प्रख्यात अधिवक्ताओं प्रमुख दैनिक समाचार पत्रों के संपादकों आदि को भेजा गया था। प्रारम्भ में विचारों और टीकाओं की प्राप्ति की अंतिम तिथि 1 दिसम्बर, 1985 रखी गयी थी, किन्तु जनता की मांग के कारण इसे 31 मार्च, 1986 तक बढ़ा दिया गया था।

राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा।

1.6 इस विषय पर 27 दिसम्बर, 1985 को एक प्रेस कान्फ्रेंस द्वारा जिसमें उपस्थिति बहुत अच्छी थी, राष्ट्रीय स्तर की चर्चा का प्रारम्भ किया गया। इसमें यह प्रार्थना की गयी थी कि इसे अच्छा प्रकाशन मिलना चाहिये, जिससे इस प्रश्न की जानकारी अधिकतम व्यक्तियों तक पहुंच सके। प्रेस ने बड़ी ही उत्सुकता से विधि आयोग के प्रस्तावों को राष्ट्रीय समाचार पत्रों द्वारा तथा भाषायी समाचार पत्रों द्वारा प्रसारित किया। इन प्रस्तावों को दूरदर्शन और आकाशवाणी द्वारा भी अच्छा प्रसारण हुआ। विषय के महत्व को ध्यान में रखकर आयोग ने विधि संकायों, विधि संघटनों, सामाजिक संस्थाओं, न्यायाधीशों आदि के सहयोग से सात कार्यशालायें दिल्ली (केन्द्र शासित), सलेम (तमिलनाडु), जयपुर (राजस्थान), बाराणसी (उ०प्र०) रांची (बिहार), कलकत्ता (पश्चिम-बंगाल), इंदौर (म०प्र०) में आयोजित की थी। सुदूर गांवों में लोगों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये हमने गांव की भी यात्रायें की। एक गांव जिसमें मुंडा जनजाति के लोग रहते थे तथा दूसरा बाराणसी के एक गांव में जहां आसपास के आठ गांवों के पंचायत सदस्य और वृद्ध जन एकत्रित थे, हम गये। कार्यशालाओं में जीवन के सभी क्षेत्रों के लोगों को आमंत्रित किया गया था। आयोग के प्रस्तावों पर प्राप्त उत्तर विस्तृत और अनेक हैं। वास्तव में इसे राष्ट्रीय चर्चा का रूप प्राप्त हो गया था।

अध्याय 2

ग्यारहवें विधि आयोग की समग्रतापूर्ण पहुंच

कार्यान्वयन पर जनता की धारणा।

2.1 एक बहुत प्रखर जनधारणा है कि विधि आयोग की रिपोर्ट का साधारणतया क्रियान्वयन नहीं होता है। पिछले दशक से या उससे भी अधिक दिनों से राष्ट्रीय दैनिकों में समय-समय पर ऐसे लेख आये हैं, जिनका शीर्षक था रिपोर्ट जो कागज से बाहर नहीं आ सकी, विधि आयोग की रिपोर्ट पर धूल जम रही है, इस प्रकार की छवि भारत में कानूनी सुधारों पर दुःखद टीका है। इसके विपरीत अन्य देशों में विधि आयोग, उदाहरणार्थ कामनवेल्थ के देशों में, का अनन्य आदर है और सरकारों का आदर पात्र है।

वस्तु स्थिति।

2.2 ग्यारहवां विधि आयोग इस बात से परिचित है कि जनता में इसकी छवि तथ्यों पर आधारित नहीं है। डा० उपेन्द्र बक्शी[1] के विश्लेषण से प्रकट है कि भारतीय विधि आयोग की प्रथम 59 रिपोर्ट में से कम से कम 20 रिपोर्ट विधायी रूप से क्रियान्वित हुई और चार अंशतः क्रियान्वित हुई। दूसरी ओर डा० बक्शी ने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला है कि छह रिपोर्ट अस्वीकार की गई और अठारह रिपोर्ट प्रकाशन के इन्तजार में है।

प्रक्रिया संबंधी पत्र।

2.3 डा० बक्शी ने क्रियान्वयन की प्रक्रिया में गुणात्मक और परिणात्मक निर्णय लेने के दौरान बहुत सी पहेलियों की ओर भी इंगित किया है। किन्तु हम उनके द्वारा किये गये आलोचन के औचित्य और वैधता को स्वीकार करते हैं। उनका कथन यह संभव नहीं है कि भारतीय विधि आयोग की रिपोर्ट[2] का क्रियान्वयन न होने का दोष केवल शासन को दिया जाय।

हम इस बात से सहमत हैं कि विधि आयोग अपनी रिपोर्ट के प्रभाव शालीनता के प्रति उपेक्षा भाव वर्तमान दशा के लिये विशेष उत्तरदायी है। ग्यारहवें विधि आयोग ने तदनुसार ही निर्णय किया है कि अभी तक की आयोग की रिपोर्ट[3] के क्रियान्वयन के लिये अधिकृत प्रक्रिया संबंधी पत्र तैयार किया जाय।

विधि सुधार के लिए साधारण पहुंच।

2.4 डा० बक्शी ने इस तथ्य की ओर बलपूर्वक ध्यान आकर्षित किया है कि एक के बाद दूसरा आयोग विधि के पुनरीक्षित और सुधार किये जाने के किसी साधारण पहुंच मार्ग को बनाने में असफल रहा है। निश्चय ही विधि सुधार के किसी भी राष्ट्रीय संघटन का भारत में विधि के पुनरीक्षण और सुधार करने की प्रकृति और दशा पर नीतिगत दृष्टिकोण होना ही चाहिए। आयोग की इच्छा है कि अपने कार्य के एक भाग के रूप में परिवर्तनशील समकालीन भारतीय समाज में विधि सुधार के भविष्य, ढंग, प्रक्रिया और लक्ष्य के बारे में राष्ट्रीय परिचर्चा प्रस्तावित करें। आयोग यह आशा प्रकट करने का साहस करता है कि विधि सुधार और विधि को पुनरीक्षित करने की नीति के बारे में आयोग के कार्य का परिणाम राष्ट्रीय प्रस्ताव के रूप में आयेगा जिसे संसद् के प्रस्ताव का रूप मिलेगा।

वर्तमान विधि आयोग की पहुंच।

2.5 जैसा कि अगले अध्याय में विस्तृत वर्णन है ग्यारहवें विधि आयोग ने पहले से ही पूर्ण रूप से विधि सुधार की प्रक्रिया और कार्य को जिसे डा० बक्शी ने इंगित किया है, अपनाया है किन्तु इस अध्याय में यह आवश्यक है कि ग्यारहवें विधि आयोग द्वारा अपनाये गये मार्ग की रूपरेखा मोटे तौर पर दे दी जाय।

प्रथमतः यह आयोग यह बताना आवश्यक समझता है कि विधि सुधार और विधि का पुनरीक्षण संविधान में दिये उद्देशिका, मूल अधिकार और कर्तव्यों, राज्य नीति के निदेशक

1. देखें उपेन्द्र बक्शी—4 का 3 का सिक्स आफ 4 इंडियन लीगल सिस्टम, 1982 पृष्ठ 276-285।
2. वही पृष्ठ 284
3. देखें डा. उपेन्द्र बक्शी द क्राइसिस आफ इंडियन सिस्टम 284 (1982)।

सिद्धांतों से पूर्ण रूप से विज्ञ होना चाहिये। अनुच्छेद 39क भारत में विधि संबंधी सुधार को सार रूप में प्रस्तुत करता है। हमारी प्रस्तुत रिपोर्ट यह मानती है कि कैसे यह अनुच्छेद विधि संबंधी सुधारों पर विचार करने की प्रक्रिया में नये विचार और भिन्न दृष्टिकोण दे सकती है। यह रिपोर्ट सरकार द्वारा विधि संबंधी सुधारों के प्रस्तावों के क्रियान्वयन की प्रक्रिया में भी नये और भिन्न मार्ग का सुझाव प्रस्तुत करने जा रही है।

दूसरा—आयोग का विश्वास है कि विधि व्यवस्था राष्ट्रीय विकास, एकता और एकात्मकता तथा भारतीय संविधान की उद्देशिका में वर्णित उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिये अपरिमेय श्रोत है। कानून की प्रकृति और भविष्य कानून, इसकी प्रक्रियाओं और इसकी संस्थाओं की इन मूल्यों के अभिरक्षण और विकास करने की क्षमता में अविश्वास, संविधान द्वारा प्रतिरोध है। किन्तु विधि संबंधी सुधार का प्रत्येक उद्देश्यपूर्ण कार्य संवैधानिक जनतंत्र के सुदृढ़ीकरण का कार्य माना जाना चाहिए।

तीसरा—संविधान द्वारा सृष्ट उद्देशिका में समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य से आवश्यक रूप से विवक्षित है कि विधि संबंधी सुधार सहभागिता के आधार पर होना चाहिए। सभी प्रभावित होने वाले हितों से पर्याप्त रूप में विचार-विमर्श होना चाहिए। विधि संबंधी सुधारों की, जैसा डा० बक्शी ने हमें स्मरण दिलाया है, परिकल्पना केवल विशेष वर्ग का कार्य नहीं होना चाहिए, जिसमें केवल अधिवक्ताओं की विधि में ही सुधार हो[1], कानून जनता को प्रभावित करता है और इसलिए जनता से ही विधि सुधार संबंधी प्रक्रिया में विचार-विमर्श किया जाना चाहिए। जनता में अनेक वर्ग जिनमें अधिवक्ताओं, न्यायाधीशों, प्रशासकों के अतिरिक्त भी लोग हैं, यद्यपि इनकी सहभागिता अपरिहार्य और मूल्यवान है, किन्तु कानूनों के उपभोक्ता, हिताधिकारी और विधि प्रशासन तथा न्याय के भुक्तभोगियों की भी अपनी आवाज होनी चाहिए, उनका भी विधि संबंधी सुधारों के प्रस्तावों के निर्माण में अपना मत होना चाहिए। एक राज्य में यदि कहें तो ऐसे प्रस्ताव अधिकतम सहभागिता पर आधारित होना चाहिए। विधि सुधार की वास्तव में सहभागिता की प्रक्रिया होनी चाहिए।

चौथा—इस आयोग का विश्वास है कि इसका यह भी संवैधानिक कर्तव्य है कि सारवान और प्रक्रिया संबंधी विधि सुधार के साथ-साथ विधि संबंधी संस्थाओं में भी परिवर्तन करें। सुसंगत संस्थागत परिवर्तनों के बिना मानकीय क्रांतियां केवल प्रतीक रूप में सुधार करती हैं और विधि की प्रक्रियाओं और विधि संबंधी सुधारों की संस्थाओं के लिये समयान्तर में घृणा और द्वेष ही उत्पन्न करती हैं। यह प्रकारान्तर में कानून के प्रतीक को ही विनष्ट कर देता है, जिसका समाज को बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, जिसमें होती है कानून के प्रति अवहेलना और अनादर जिसे हमारे जैसा विकासशील देश गवारा नहीं कर सकता है।

पांचवां—इसी कारण से आयोग भारत सरकार और संसद से निवेदन करना चाहता है कि आयोग के सुधार संबंधी प्रस्तावों पर विचार के लिये समयबद्ध प्रक्रिया विकसित की जाये। इसमें इसकी रिपोर्ट के अविलम्ब प्रकाशन और प्रसारण और अन्तर मंत्रिमंडलीय विचार-विमर्श के समयबद्ध विचार की प्रक्रिया सम्मिलित है।

छठा—प्रक्रियाओं के विकसित करने के लिये आयोग अपनी इस इच्छा की घोषणा करता है कि आयोग मंत्रालय और अन्तर मंत्रालयों में विचार-विमर्श में अपना योगदान मुद्रित शब्दों के अतिरिक्त भी अपने मत से उन मंत्रालयों को जिनसे सुधार प्रस्ताव संबंधित है, अवगत करा सकता है। यह विधि सुधार की प्रक्रिया में अत्यन्त मूल्यवान है।

इस प्रक्रिया से कार्य में गति ही नहीं आयेगी, अपितु शासन के अन्तर्गत विस्तृत रूप से विधि सुधार संबंधी प्रक्रिया और प्रस्ताव को प्रौढ़ता प्राप्त होगी और आयोग अपने से प्रस्तावों के निर्माण में सरकार, राज्य सरकारों, केन्द्र शासित सरकारों, विधि सुधार आयोग और देश में निर्णय लेने में सक्षम अन्य केन्द्रों से भी बातलाप करेगा।

1. देखें डा० उपेन्द्र बक्शी, द क्राइसिस आफ द इंडियन लीगल सिस्टम 1982, पृष्ठ 255–259।

सातवां—विधि सुधार के लिये जिसकी कल्पना प्रणालीबद्ध परिवर्तन की एक प्रक्रिया के रूप में की गई है भविष्य में किसी सीमा तक समन्वयन की भी आवश्यकता होगी। यद्यपि यह सही है कि आयोग चाहे इसके वर्तमान स्रोत कितने भी समृद्ध कर दिये जाय। कभी भी विधि संबंधी सुधार के प्रस्तावों को तैयार करने की एक मात्र संस्था नहीं बन सकती। विभिन्न मंत्रालयों द्वारा विधि सुधार संबंधी समितियों की जब नियुक्ति की जाती है तब इस आयोग को परामर्श प्रदान किये जाने का फल होगा कि अन्य सुधार समितियों को भी आयोग का सर्वोत्तम परामर्श प्राप्त होगा जो तदर्थ और कार्यक्रमबद्ध होगी। इससे आयोग को भी अनेक क्षेत्रों का ज्ञान और अनुभव होगा जो अन्ततः भारतीय विधि प्रणाली की संरचना के नवीकरण में सहायक होगी। हम सरकार से इस सुझाव पर शीघ्र और गंभीरतापूर्वक विचार करने का निवेदन करते हैं क्योंकि स्पष्टतः यह सुझाव इस योग्य है। आयोग इस दिशा में किये गये शुरूआत को स्वीकार करता है जब न्या० मू० मुल्ला समिति की कारगर सुधार संबंधी रिपोर्ट इसे टीका, विश्लेषण और क्रियान्वयन के ढंग सुनाने के लिये भेजी गई थी। और अन्त में (यद्यपि यह पूर्ण नहीं कहा जा सकता) विधि प्रणाली को प्रभावित करने वाले सभी परिवर्तनों में खर्च के प्रस्ताव आवश्यक होते हैं। यह आवश्यक होगा कि आयोग लागत के परिमाण का एक प्रारूप तैयार करे। आयोग को स्वभावतः ही यह आशा है कि वित्त मंत्रालय का इसे पूर्णतम सहयोग इस सम्बन्ध में प्राप्त होगा। विचार क्रम के अनुसार ही विधि संबंधी सुधारों की योजना का गतिशील घटक समझा जाना चाहिए। योजना और वित्त आयोग द्वारा आयोग को परामर्शी प्रास्थिति प्रदान किये जाने की आवश्यकता है।

विधि आयोग की व्यापक भूमिका

2.6 पूर्व की चर्चा में हमने विधि संबंधी सुधार की गतिशील और व्यवहारिक प्रक्रिया की अपनी अवधारणा की ओर इंगित किया है। ऐसी दशा में इस आयोग को यदि भारतीय विधि प्रणाली की पुनः रचना के मिशन में अपना योगदान देना है तो इसे शासन का प्रहणीय उपयोग के रूप में कार्य करना स्थगित करना पड़ेगा। विधि को राष्ट्रीय विकास और भारत की एकता तथा एकात्मकता के साधन के रूप में पूर्ण रूप से सहायक होने के लिये इसे आवश्यक रूप से विधि संबंधी सुधारों की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं करनी चाहिए, वरन् विधि प्रस्तावों को समन्वित करने का भी विचार प्रारम्भ करना चाहिए। सहभागिता के आधार पर विधि संबंधी सुधारों का अर्थ जैसा हमारी अवधारणा है, केवल जनता के विधि सुधारों से संबंधित विचारों को संग्रहीत करना ही नहीं है, अपितु शासन में निरन्तर सहभागिता भी है, जिससे विधि सुधार की क्षमता का पूर्ण दोहन हो सके, जिससे संवैधानिक लक्ष्यों की पूर्ति और इन लक्ष्यों का निरन्तर सुदृढ़ीकरण हो सके।

अध्याय 3

आधार पत्र में दिया हुआ पहुंच मार्ग

सुधार के पूर्व प्रयास।

3.1 मुकदमों की अनियंत्रणीय संख्या, बढ़ता हुआ बकाया और न्यायालयों में मुकदमों के निपटान में सभी स्तरों पर ऊपर से नीचे तक देर और साथ ही साथ अमर्यादित खर्च ने न केवल बार के सदस्यों, वादकारियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विधियों और संसद् का ध्यान आकर्षित किया है, अपितु न्याय की व्यवस्था में लगे लोगों का भी आकर्षित किया है। भारत के मुख्य न्यायाधीश ने लिखित रूप में यह कहा है कि इस देश में प्रचलित न्याय व्यवस्था धराशायी होने वाली है। इस प्रकार की चिन्ताजनक स्थिति की ओर प्रत्येक व्यक्ति जिसका तनिक भी विधि सुधार से संबंध है, ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। पूर्व के विधि आयोगों द्वारा अनेकानेक सुझाव न्यायिक प्रशासन की प्रणाली में क्रांतिकारी सुधारों के हेतु दिये गये हैं। उस समय तक मुख्य विचारणीय विषय यह ही था कि मुकदमों के निपटाने में देरी कैसे कम की जाए, इसके विघटन को कैसे दूर करें, इस प्रणाली को कैसे गतिशील बनाया जाए और इसकी औपचारिकता में कमी कैसे की जाए और इसे वास्तव में गैर खर्चीली कैसे बनाया जाए जिससे यह निर्धन वर्ग की पहुंच के भीतर हो सके। विधि आयोग की अन्य रिपोर्टों में से 14वीं, 54वीं, 77वीं और 79वीं रिपोर्टें जिनमें मूलभूत ढांचे को बनाये रखते हुये अनेकानेक परिवर्तनों का सुझाव दिया गया था, केवल सही थीं। हमें खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि इनका दुष्परिणाम इस प्रणाली को और भी अकुशल बनाने के रूप में हो हुआ है। विधि आयोग ने इसलिये यह निर्णय लिया है कि इस मामले में उसकी पहुंच अब तक के मार्ग से भिन्न होनी चाहिए।

सहभागी न्याय।

3.2. कानूनों की दृष्टि और न्यायिक प्रशासन ब्रिटिश काल से ही सहभागिता पर आधारित नहीं थे और इनको वही विशेषता अब भी चली आ रही है। अधिकाधिक जनसमूह हो जिन पर कानूनों का शीघ्र परिणाम होने वाला है, कानूनों की दृष्टि और क्रियान्वयन में अभी तक वास्तव में थी ही नहीं। यदि हम कानूनों के विरुद्ध प्रतिरोध और उनका अवहेलना को ही कानूनों की सृष्टि में सहभागिता माने तब और ही बात है।[1] कानूनों के प्रति नई पहुंच के तरीके को इस असहयोग की जड़ पर ही प्रहार करना है। वर्तमान प्रणाली की स्वीकार्य विशेषताओं को बनाये रखते हुए आधार पत्र ने अपना ध्यान इसे (विधियों) सहभागिता के आदर्श से जोड़ने पर ध्यान दिया है, जिससे न्याय प्रशासन को प्रकृतिक बनाने में सहायता प्राप्त हो सके। विधि संबंधी सुधारों की प्रक्रिया में ही सहयोग आमंत्रित किया जाना था और न्यायिक प्रशासन में भी सहभागिता को लाया जायेगा। आधार पत्र में प्रस्तावों के प्रारूप में यह ही दो उद्देश्य थे। ऐसा कहा जाता है कि इतिहास सदैव ही भविष्य के क्रिया-कलापों पर अपना प्रकाश डालता है और वह ही इसे पुनर्निवेशन देता है। आधार पत्र में ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विस्तृत विश्लेषण किया गया है और उससे अपरिहार्य रूप से जो सारांश निकला वह यह है कि इस प्रणाली में कहीं यहां और कहीं वहां सुधार करने से असफलता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं प्राप्त होगा। यह स्वयं प्रकट है कि मुकदमेबाजी को न्यायालीय प्रक्रियाओं को कम करने से कम नहीं किया जा सकता है। अब यह आवश्यक हो गया है कि तकनीकियों से दूर नई संस्थाएं हों। पीठ बनें जो नियमित न्यायालयों के प्रक्रिया संबंधी कर्मकांड से भी भिन्न हों। ब्रिटिश न्यायिक प्रशासन प्रणाली ने, जिसमें लोगों की साझेदारी नहीं थी, प्रणाली को ही लोगों से दूर कर दिया क्योंकि यह विदेशों में जन्मी थी और इसमें तकनीकियों, अति की सीमा तक औपचारिकताओं, प्रक्रिया संबंधी कठोर नियम और यह विदेशी भाषा में थी तथा यहां के लिये असंगत भी थी। यह आज भी विदेशी

1. मू. जवली—द क्राइसिस आफ द इंडियन लीगल सिस्टम, पृ० 44-45।

प्रणाली ही रह गयी है जिसका जनसाधारण से कोई जीवन्त संबंध नहीं है और उनके लिये निरर्थक है।[1] ऐतिहासिक दृष्टि ने ही आयोग के विचारों को आकार प्रदान करने में सहायता दी थी और प्रस्तावों के प्रारूप में न्यायिक प्रशासन की संरचना को सहभागिता के आधार पर बनाने का प्रयास किया गया।

न्यायालय स्तर एवं न्याय।

3.3 सहभागिता के आधार पर न्यायिक प्रशासन को स्वरूप देने का यदि प्रायोगिक निर्णय लिया गया तब यह भी निश्चय करना पड़ेगा कि किस स्तर पर इसे लागू करना होगा। न्यायाधिक प्रशासन इस देश में श्रेणीबद्ध है। निम्न स्तर पर मुन्सिफ या सिविल न्यायालय विभिन्न नामों से है। यह जिला स्तर पर जिला एवं सत्र न्यायाधीश के अधीन है जो राज्य न्यायपालिका के शीर्ष पर स्थित उच्च न्यायालय के अधीन है। उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालयों के ऊपर अपीलीय अधिकारिता प्राप्त है।

पिरामिडीय संरचना की नींव शक्तिशाली होना चाहिए अतः प्रारूपित प्रस्ताव नींव की पुनर्रचना को केन्द्र बिन्दु मान कर ही है। तदनुसार ही ग्रामीण क्षेत्रों से प्रारम्भ होने वाले विवादों को समाधान करने वाले पीठ को सहभागी होने की बात सोची गई। इस प्रस्ताविक निर्णय पर पहुंचने में आयोग ने इस स्पष्ट तथ्य पर भी ध्यान दिया कि यद्यपि हमारे देश की न्याय व्यवस्था समाकलित है, फिर भी इसने ग्रामीण जन, शहरी जन संख्या और महानगरीय विशिष्ट लोगों को बांटने वाली सामाजिक और सांस्कृतिक रेखाओं की उपेक्षा भी है। इस मार्ग ने इस बात की पूरी तौर पर अनदेखी कर दी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न विवादों और महानगरों में उत्पन्न विवादों के चरित्र में कोई साम्य नहीं है। और इनके समाधान के लिये अलग-अलग प्रकार के मंच चाहिए। वाणिज्य और व्यावसायिक मुकदमें, निगमित विधि को लागू करने के मुकदमें, विदेशी विनिमय के विनियम, एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार और दुरूह संवैधानिक प्रश्न महानगरीय क्षेत्रों के मुकदमों में होते हैं। औद्योगिक नगरों और शहरों में श्रम संबंधी विवाद न्यायालयों में अधिक होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले विवादों में से अधिकांश कृषि भूमि के स्वामित्व, कब्जा, चकबन्दी, हदबन्दी अभिलेखों में सुधार से संबंधित होते हैं। छोट-छोटे पारिवारिक और संपत्ति संबंधी विवाद भी होते हैं। विवादों के चारित्रिक अन्तर को अनदेखी कर वर्तमान प्रणाली न्याय विस्तारण के लिये जटिल प्रक्रिया संबंधी कानूनों को आवश्यक बताती है। आयोग को इस अनुभूति ने मूल स्थान पर ही विवादों के निपटाने के लिये एक दूसरे ही प्रकार की पीठ का सुझाव देने को बाध्य किया है, विवादों के निपटारे के लिये इसकी प्रकृति के अनुरूप ही प्रक्रिया और मंच होना चाहिए। साम्राज्यवादी न्यायिक संरचना के पूर्व विवादित प्रश्न और उन निर्णयों का समाजीकरण था। विवादों के तीसरे व्यक्ति द्वारा निपटाया जाता था। और यह तीसरा व्यक्ति सामान्यतया समाज का आदरणीय व्यक्ति होता था।

आयोग को निर्णय लेने में एक अन्य अनुभूति ने प्रभावित किया है। न्यायिक व्यवसाय द्वारा सृजित और पुष्टि की गई एक जन प्रिय (यद्यपि अनावश्यक) धारणा है कि जब तक कोई विधि में प्रशिक्षित न हो न्याय करने में अक्षम है। इस अमान्य धारणा पर जोर देने के लिये यह बार-बार दुहराया जाता है कि न्याय विधि अनुसार ही होना चाहिए। कहने का यह अर्थ नहीं है कि न्याय करने के लिये कानून की अवहेलना ही होनी चाहिए लेकिन कानून का ज्ञान न्याय करने के लिये पूर्व आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। विधि के अनेक समाज शास्त्रीय अध्येताओं द्वारा यह बात देखी गई है कि विधि संबंधी विवादों के विशिष्टीकरण और पारम्परिक न्यायालीय प्रक्रिया से हटकर जो निर्णय दिये जाते हैं, उनके लिये विधि के अतिरिक्त अन्य विषयों का विशिष्ट ज्ञान होना आवश्यक होता है। बुलफगेंग फ्रीड मैन ने इस बात पर बल दिया है कि सरकारी समितियों, प्रशासनिक संघटनों और विशेष न्यायालयों के अधिकांश सदस्य विधि विशेषज्ञ नहीं होते हैं।[2] इसी प्रकार पक्षकारों द्वारा चयनीत मध्यस्थ

1. रिपोर्ट आफ द लीगल एड कमेटी "गुजरात सरकार" 1971 अनुच्छेद 13.12, पृष्ठ 209।
2. कलमैन कलसकार: पीपुल्स असेसर्स इन कोर्टस (1982) पृ. 241

किसी भी विवाद का निर्णय और निपटारा कर देता है। इस तथ्य के बावजूद कि वह विधि में निष्णात नहीं होता है। यदि कानून सामान्य बुद्धि की उपज है तो इसके विकास के लिये यह आवश्यक नहीं है कि यह पूर्णतः अथवा आवश्यक रूप से अधिवक्ताओं के कानून व विनियमित कानून के ज्ञान पर आधारित हो। अतः आयोग ने पहुंच भाग को अपनाने में यह माना कि न्याय विधि प्रशिक्षित लोगों का एकाधिकार नहीं है। न्याय करने के लिये स्थानीय संस्कृति का ज्ञान, सामाजिक परम्पराओं, आचरण के प्रतिमान और सामान्य बुद्धि प्राथमिक आवश्यकता होनी चाहिये। जितना ही न्यायिक प्रशासन कानून पर आधारित होगा उतनी ही यह धारणा बनती जायेगी कि अति विधिज्ञता के कारण न्याय नहीं हो पाया। स्थानीय हितों और स्थानीय रीति रिवाजों की जानकारी को न्याय करने के लिये आवश्यक समझा जाना चाहिये और उन्हें न्याय का अंग माना जाना चाहिये। आयोग भारतीय जन की न्यायिक ज्ञान के सिद्धान्तों को ही स्वीकार करता है जो अनेक प्रणालियों में जनता के कानून के[1] रूप में वर्णित है। इन्हीं सब विचारों ने मूल स्थान पर विवादों को निपटाने के सहभागी पीठ के बारे में आयोग का पहुंच मार्ग संबंधी धारणा को स्वरूप दिया है।

नवीन पीठ।

3.4 निर्वाचित प्रतिनिधियों से गठित न्याय पंचायत विशिष्ट जनों और वरिष्ठ न्यायालयों के हाथों की शिकार हो गई। इस धारणा को गलत नहीं कहा जा सकता है। विशिष्ट न्यायालयों के कारण न्याय पंचायतों का विकास अवरुद्ध हो गया, किन्तु यह बात मान्य है कि साधारण व्यक्ति जो विधि की तकनीकियों से अनभिज्ञ है न्याय नहीं कर सकता और विवादों का निपटारा नहीं कर सकता है। तब प्रश्न उठता है कि दोनों दृष्टिकोणों को कैसे एक करने का प्रयास करना चाहिये। आयोग ने न्याय पंचायतों को उनके दुर्भाग्य से बचाने के लिये समन्वय के रूप में यह सुझाया कि इसका गठन विधि से प्रशिक्षित न्यायाधीश और दो साधारण न्यायाधीशों को लेकर किया जाना चाहिये। यह प्रणाली अनेक देशों में प्रचलित है, जिसका उल्लेख आधार पत्र में है।

नयी पीठ के गठन संबंधी प्रस्तावित विचारों को रखने के पश्चात् आयोग ने इस पीठ को दी जाने वाली अधिकारिता के प्रश्न पर विचार किया है। इस पर यथार्थवादी निर्णय लेने के लिये आयोग ने वर्तमान न्यायालयों में उपस्थित किये जाने वाले मुकदमों और उनकी प्रकृति के बारे में सूचनाएं एकत्र की हैं। आयोग ने माल अधिकारियों के समक्ष आने वाले विवादों की प्रकृति के बारे में पूछताछ की है। एक निश्चित कालावधि में दायर किये गये मुकदमों से विवादों की प्रकृति का जो अदालतों में लाये जाते हैं, पता लगता है। इनके विश्लेषण से आयोग ने ग्रामों में उत्पन्न विवाद को विभिन्न श्रेणियों में बांटा है। आयोग का मत है कि सरल और सीधे विवादों को जिन्हें संक्षिप्त समय में ही निपटाया जा सकता है, उन्हें नयी पीठ को सौंपना चाहिये। इस प्रकार विवादों की प्रकृति से पता लगता है कि स्थानीय जन की सहभागिता विवादों के जल्द निबटाने में अत्यधिक सहायक होगी। अतः यह मत स्वीकार कर लिया गया।

साधारण न्यायाधीशों का चयन/नामांकन

3.5 आयोग के लिये यह सरल नहीं था कि वह साधारण न्यायाधीशों के चुनाव की पद्धति का भी निर्धारण करता। इस संबंध में दो मत हैं, चुनाव या निर्वाचन। अनेक राज्यों में न्याय पंचायत के संबंध में लागू अधिनियमों में न्याय पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन ग्राम सभाओं से प्रत्यक्ष है अथवा न्याय पंचायत के सदस्यों द्वारा निर्वाचन अप्रत्यक्ष।

आयोग के इस तथ्य से भी परिचित है कि निर्वाचन पद्धति के क्या लाभ और क्या हानियां हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि देश अपने राजनीतिक प्रबन्धकर्ताओं को निर्वाचित करता ही है। एक व्यक्ति एक मत के राजनैतिक सिद्धान्त में ग्राम के सामाजिक जीवन को एक महती सीमा तक राजनीतिक बना दिया है। विधान सभाओं और लोक सभा के सदस्य के निर्वाचन का प्रभाव देर से प्रभावकारी होता है, किन्तु यदि राजनीतिक से रंगे ग्राम के छोटे से समाज से न्यायाधीश का निर्वाचन होता है तो लाभ के अनुपात में निर्वाचन पद्धति को हानियां अधिक होंगी। न्याय किया ही नहीं जाना चाहिये, अपितु अनुभव किया जाना चाहिये,

1. देखें—यू० बक्सी: द क्राइसिस आफ द इंडियन लीगल सिस्टम, 1982—अध्याय 2, पृष्ठ 328।

कि न्याय किया गया है—इस सिद्धान्त की स्थापना की आकांक्षा से प्रेरित होकर आयोग ने अपनी पसंद नामांकित या चयनित न्यायाधीश के पक्ष में ही प्रकट की है।

साधारण न्यायाधीशों के पैनल को तैयार करना।

3.6 साधारण न्यायाधीशों के चयन की पद्धति के रूप में यदि नामांकन पद्धति को एक बार तात्कालिक रूप में स्वीकार करने का निर्णय लिया जाता है तो एक अधिकरण की नियुक्ति आवश्यक होगी जिसको इस शक्ति से निहित करना होगा कि वह न्यायाधीशों के पैनल का चयन करे। यदि यह शक्ति किसी एक कार्यपालिका के अधिकरण को दी जाये तब कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों के चयन में हस्तक्षेप का आरोप लगाया जा सकता है। दूसरी ओर यदि केवल न्यायिक पीठ द्वारा साधारण न्यायाधीश का चयन किया जाना है तो उसे ऐसे आदरणीय सामाजिक कार्यकर्ता को ढूंढने में कठिनाई होगी जिन पर यह विश्वास किया जा सके कि वे साधारण न्यायाधीश बनने योग्य हैं। न्यायिक मंच के लिये यह संभव नहीं है कि जन समूह से मिलजुल सके। यथार्थतः ईमानदार सामाजिक कार्यकर्ताओं के बारे में जानकारी के श्रोत सीमित हैं, किन्तु कार्यपालिका के पास ग्राम स्तर तक के अधिकारी हैं जिनके लिये व्यक्ति खोज पाना सरल है। आधार पत्र ने पैनल तैयार करने के लिये एक बीच का मार्ग निकाला है, जिसमें कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों का सहयोग है। अतः आधार पत्र में यह सुझाव रखा गया कि जिला मजिस्ट्रेट और जिला एवं सत्र न्यायाधीश दोनों ही पैनल की निर्मिति में सहायता देने के लिये समिति बनायें। किसी भी दुराशंका से बचने के लिये पैनल की निर्मिति के काम की अधीक्षण के लिये मुख्य न्यायाधीश को भी रखा गया था। ऐसा प्रस्तावित था कि सर्वानुमत पैनल को राज्य के मुख्य न्यायाधीश को दे दिया जाये तो अपने अन्य सहयोगियों की सहायता से पैनल को अन्तिम रूप देंगे। साधारण न्यायालय को पैनल प्रस्तुत करने में बाह्य और असंगत विचारों का परित्याग किया गया है। जिसमें ग्रामीण समाज में उनके प्रति विश्वास उत्पन्न हो।

न्याय पंचायत का गठन।

3.7 सहभागिता के आदर्श को यदि चर्चा का प्रारम्भ मान लिया जाता है तो पीठ का गठन इस सावधानी के साथ किया जाना चाहिये कि यह न्याय के भुक्तभोगियों में विश्वास पैदा कर सके। केवल निर्वाचित व्यक्तियों की पीठ और साथ ही साथ केवल राज्य द्वारा नामांकित न्यायाधीशों की पीठ को अमान्य कर आयोग ने विधितः प्रशिक्षित व्यक्ति की कल्पना की है, जिसे पंचायतराज न्यायाधीश के नाम से पदाभिहित किया जाना चाहिये। जो पीठ का अध्यक्ष हो जिसमें वह स्वयं और दो साधारण न्यायाधीश हों जिनका चयन वह इसी उद्देश्य से निर्मित पैनल में से करें। ये तीन नये सहभागी पैनल का गठन करेंगे। इस प्रकार के पीठ का निर्णय लेने में आयोग ने अपने ध्यान में संविधान के अनुच्छेद 39क और राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों को अपने ध्यान में रखा है। यह पीठ वर्तमान न्यायालयों के बहुस्तरीय वातावरण से परे होगा और उनकी पहुंच अनौपचारिक होगी तथा विवादों का हल सर्वसम्मति से होंगे। इसे अपने ही व्यक्तियों द्वारा न्याय कहा जायेगा। आधार पत्र ने तदनुसार ही एक प्रकार के ग्राम न्यायालय का सुझाव दिया है जिसमें राज्य के न्यायाधीशों के संवर्ग जिसे इस लिये विशेष रूप से गठित किया जायेगा, से लिया गया एक न्यायाधीश जिसे पंचायतीराज न्यायाधीश कहा जायेगा और दो साधारण न्यायाधीश होंगे। आधार पत्र में आयोग के अनुसार इसका यह लाभ था कि विधि से प्रशिक्षित न्यायाधीश साधारण न्यायाधीशों को कानून की प्रयुक्ति में सहायता देगा और दो साधारण न्यायाधीश स्थायी परम्पराओं और संस्कृति के द्वारा निर्मित तथा ग्राम्य समाज के व्यवहारिक आदर्शों के अनुरूप मार्गदर्शन प्राप्त सहज वृद्धि का उपयोग विवादों के निबटान में करेंगे।

प्रक्रिया।

3.8 विधि आयोग की 54वीं रिपोर्ट में सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का सविस्तार विश्लेषण किया गया है, जिससे प्रक्रिया को केवल कारगर न किया जाये वरन इसे कम औपचारिक, अधिक सरल और न्यायालय के समक्ष वादों या विवादास्पद मामलों के निबटान में गति मिल सके। 77वीं रिपोर्ट ने भी इसी दिशा में कतिपय सुझाव दिये हैं, जिससे विचारण न्यायालय में देरी और बकाया कम किया जा सके। इन रिपोर्टों के आधार पर कुछ संशोधन भी किये गये। आयोग इन संशोधनों के संघात का अध्ययन करने में

भी रुचि रखता है, किन्तु जो भी आंकड़े आयोग के समक्ष आये उनसे यह प्रकट हुआ कि स्थिति में सुधार की अपेक्षा गिरावट अधिक आई और संशोधनों के पश्चात् लम्बित वादों की संख्या दो गुनी हो गई। आधार पत्र के अनुच्छेद 2:3 में ये आंकड़े दिये गये हैं। आयोग इस बात से परिचित था कि केवल सहभागिता के आधार पर बनने वाले पीठ से ही यह समस्या हल नहीं होगी यदि इस पीठ पर विवादों को निबटाने की पुरानी प्रक्रिया ही लाद दी जाती है। प्रक्रिया पर आधारित न्याय ने सारवान न्याय को परास्त कर दिया है। उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय के बिल प्रक्रिया के उपबंधों पर दिये गये निर्णय उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध करते हैं। अतः आयोग ने सुझाव दिया कि दुर्वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 और भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 सहभागी पीठ के समक्ष कार्यवाहियों पर लागू नहीं होंगे। तदनुसार ही आयोग ने प्रस्तावित किया कि ऐसी सरल प्रक्रिया होनी चाहिये जिससे निर्णय जल्द और प्रभावी हो सके तथा नयी पीठ के समक्ष प्रक्रिया साम्या और सद्विवेक से अनुशासित हो।

यातायात।

3.9 यदि वादकारियों का वर्णन न्याय के उपभोक्ता के रूप में किया जाये और न्यायालयीय प्रणाली को यह समझा जाये कि यह उपभोक्ताओं को न्यायालय शुल्क के रूप में शुल्क के संदाय करने पर न्याय देता है तो यह बात स्वयं स्पष्ट है, उपभोक्ताओं की पहुंच में यह शुल्क होना चाहिये। यदि न्याय देने जैसी महान कार्य के लिये उपभोक्ता—वादी पहुंच कहना भला न लगता हो तो यह कहा जा सकता है कि इस जन सामान्य के युग में न्याय को सामान्य जन के देहली तक पहुंचाना चाहिये। इस समय तो लोगों को न्याय की खोज में कहीं भी स्थापित न्यायालयों के समक्ष जाना पड़ता है। कभी-कभी लोगों को न्याय पाने के लिये बहुत दूरी तय करनी होती है। यह समय को नष्ट करने वाली, खर्चीली और अनुत्पादक भी होता है। यह बात स्पष्ट है कि नयी पीठ की स्थापना करते हुए यह ध्यान में रखना होगा कि यह विवाद विषय या स्थान के निकट ही हो और तदनुसार इसे सरलता से स्थान परिवर्तनशील होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यातायात का साधन इसे दिया जाना चाहिये जिसे यह विवाद के स्थान पर बेग से पहुंच सके और लोगों को उनकी देहलीज पर न्याय मिल सके।

पीठ की आज्ञाओं का निष्पादन।

3.10 किसी भी न्यायालय या संस्था द्वारा विवादों का निर्णय अपने आप में उस व्यक्ति के लिये कोई अर्थ नहीं रखता है जो अन्याय किये जाने की शिकायत करता है। निर्णय के पश्चात् निर्णय द्वारा लाभ कार्य रूप में स्पष्ट होना चाहिये। किन्तु न्यायालयों के निर्णय और डिक्री अधिक खर्चीली मुकदमेबाजी के खर्चीले श्रोत बन चुके हैं। आयोग को प्रथम विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट[1] में दी हुई बात पता है। उसमें कहा गया है कि "निष्पादन प्रार्थना पत्र के प्रगति के दौरान अत्यधिक देर अधिकांश मामलों में होती है।" प्रथम विधि आयोग ने तदनुसार ही निष्पादन कार्यवाहियों के त्वरित निबटान के लिये कुछ स्तुतियां भी की जिसमें सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21 को अक्षत ही छोड़ दिया गया था। आठवें विधि आयोग ने अपनी 77वीं रिपोर्ट में निष्पादन की समस्या पर विचार किया और कहा कि "निष्पादन के मुकदमों को उतना महत्व न्यायालय नहीं देता है, जितना नियमित वाद को, क्योंकि निष्पादन वाद का निबटान उनके द्वारा वादों के निबटान की संख्या में नहीं गिनी जाती है।[2] कुछ और सतही संशोधनों का सुझाव दिया गया था। रोग का निदान तो कर लिया जाता था, किन्तु उपचार निष्प्रभावी सिद्ध होते थे और समस्या अधिक जटिल होती गई। अतः आयोग ने यह प्रस्तावित कर कि नयी पीठ के आदेश यथासंभव उसी स्थान पर निष्पादित कर दिये जावेंगे, इस पर चर्चा चलाई। दृष्टान्त के रूप में यदि विवाद मार्ग, पानी की नाली या वायु और प्रकाश पाने के सुखाचार से संबंधित था तो निर्णय की बाधाओं को दूर कर तुरन्त कार्य रूप दे दिया जाना चाहिये और निर्णय द्वारा दिया गया लाभ कार्य रूप में दिखाई पड़ना चाहिये। आयोग के द्वारा प्रस्तावित उसी स्थान पर

1. भारत के विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट खंड I, अध्याय 18, अनुच्छेद 8, पृष्ठ 435।
2. भारत के विधि आयोग की रिपोर्ट अध्याय 9, अनुच्छेद 11.3, पृष्ठ 39।

हो निष्पादन का प्रभाव भी स्थायी होगा न कि देर तक चलने वाली कार्यवाहियों द्वारा निष्पादन का।

अधिकारिता सिविल।

3.11 अंत में आयोग द्वारा अधिकार पत्र की तैयारी में जिस प्रश्न ने उसका ध्यान खींचा वह था नयी पीठ को दी जाने वाली अधिकारिता की सीमायें। सिविल अधिकारिता के क्षेत्र जो सौंपे जाने वाले थे, उनको लेकर उतनी गंभीर समस्या नहीं थी। आयोग ने कतिपय तालुका स्तर के न्यायालयों से मुकदमों के दायर, निबटान और इन विवादों की प्रकृति के बारे में कुछ आंकड़े एकत्रित किये। ग्राम क्षेत्रों में उत्पन्न विवादों को कुछ समान विशेषताएं थीं कि वे कृषि भूमि उनको जोतने बोने के अधिकार, कब्जा, हदबंदी, जोतने बोने के रिकार्ड, नाली या ट्यूबवैल के पानी लेने और कृषि सुधार अधिनियमों से उत्पन्न कुछ तात्कालिक प्रश्नों से ही संबंधित थे। इन सूचनाओं से यह भी प्रकट हुआ कि विवाद, रूढ़िगत तलाक, संतानों के भरण पोषण और अभिरक्षण और पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे को लेकर भी कुछ छोटे-छोटे मामले भी थे। कुछ विवाद खेत के घरों और आंगन पर कब्जे और पशुओं के चराने के अधिकारों को लेकर थे। ये सूचनीय कुछ नये तथ्यों पर प्रकाश डालने वाली थी। अतः आयोग ने तात्कालिक रूप से सिविल विवादों की अधिकारिता का प्रस्ताव कई शीर्षकों के अधीन आधार पत्र के अनुच्छेद 2.7 में किया है।

अधिकारिता "दांडिक"।

3.12 दांडिक अधिकारिता के प्रश्न ने कुछ कठिनाइयां पैदा कीं। पूर्व अनुभव यह था कि पंचायतराज प्रशासन पर विचार करने वाले आयोगों और समितियों ने इन ग्राम स्तर के अधिकरण को अधिक विस्तृत दांडिक अधिकारिता दिये जाने में हिचकिचाहट दिखाई थी। किन्तु वर्तमान आयोग ने इस सम्बन्ध में लीक से हटकर नयी पीठ के लिये प्रस्ताव किये हैं, क्योंकि इसमें राज्य काडर का विधि प्रशिक्षित न्यायाधीश भी था, जिसे प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट के अधिकार बिना हिचक दिये जा सकते थे। यदि इस प्रकार प्रशिक्षित व्यक्ति को मंच की अध्यक्षता करनी है तो विस्तृत दांडिक अधिकारिता ऐसे संघटन को न देना भूल होगी। अतः आयोग का तात्कालिक मत था कि नया मंच उन सभी दांडिक मामलों को सुनवाई करेगा जो इस समय प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेटों द्वारा किये जाते हैं।

अधिकारिता "विविध"।

3.13 आयोग ने इस प्रश्न पर भी चर्चा चलाई कि क्या सिविल अधिकारिता को अधिक विस्तृत कर ऐसे विवादों को भी इसमें सम्मिलित कर दिया जाना चाहिये। जिनमें सामाजिक न्याय की अवहेलना, न्यूनतम मजदूरी का भुगतान न किया गया हो अथवा अन्य कृषि सुधारों से मिलने वाले लाभों को नकारने आदि के मामले भी सम्मिलित हों।

चर्चा का विस्तार।

3.14 विधि आयोग ने विस्तृत आधार पत्र में अपने तात्कालिक प्रतिवादन को देकर इन प्रश्नों पर राष्ट्रीय चर्चा का प्रारम्भ किया। यह भी सुझाव दिया गया कि यह सभी उन व्यक्तियों के लिये खुली होनी चाहिये जो न्यायिक सुधारों में रुचि रखते हों और चर्चा उन विषयों या आधार पत्र में दिये विषयों के समतुल्य या संबंधित विषयों पर भी करने की छूट होनी चाहिये। इस आयोग को यह बताने में संतोष का अनुभव हो रहा है कि चर्चा वास्तव में राष्ट्रीय स्तर पर विकसित हुई और चली।

अध्याय 4

आधार पत्र पर प्राप्त उत्तरों की सामान्य विशेषताएं

राज्य सरकारों से विचार।

4.1 उच्च न्यायालयों के अधीनस्थ न्यायालयों की स्थापना का विषय संविधान के अनुसार राज्य सरकारों का विषय है। (अनुच्छेद 233-236 और राज्य सूची में प्रविष्टि 65)। तदनुसार ही आधार पत्र राज्य सरकारों को सुनिश्चित रूप से उनके विचार और आलोचनाओं को प्राप्त करने हेतु भेजा गया था। कुल 14 राज्यों ने आधार पत्र के उत्तर दिये। मध्य प्रदेश सरकार ने प्रस्तावों पर अपनी साधारण सहमति प्रकट करते हुए भी अनुभव किया कि इस प्रणाली में बहुत बड़ी संख्या में न्यायाधीशों की नियुक्ति करनी पड़ेगी, जिसमें बहुत अधिक वित्तीय आवश्यकता होगी। इसी विचार से उन्होंने वित्तीय कारणों से इस प्रणाली को अपनाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। राजस्थान सरकार के विधि राज्य मंत्री ने प्रस्तावों को अपना पूर्ण समर्थन देते हुए अनेक सुझाव दिये, जिससे इस प्रणाली को और भी प्रभावशाली बनाया जा सके। उड़ीसा सरकार ने प्रस्तावों का स्वागत तो किया किन्तु उन्होंने प्रस्तावों में कल्पना किये गये न्यायालयों के लिये उपयुक्त प्रशिक्षित न्यायाधीशों को प्राप्त करने में अपनी कठिनाई प्रकट की। पंजाब और हरियाणा की राज्य सरकारों ने प्रस्तावों का स्वागत करते हुए चेतावनी दी कि न्याय पंचायतों की अधिकारिता ऐसी होनी चाहिये, जिससे उनके निर्णयों में दलगत राजनीति की संभावना न्यूनतम रहे। बिहार, केरल तथा जम्मू-काश्मीर की राज्य सरकारों ने प्रस्तावों को समर्थन दिया। कर्नाटक और महाराष्ट्र सरकारों ने अपना समर्थन नहीं दिया। राज्य सरकारों के बहुमत ने आधार पत्र में प्रस्तावित परिवर्तनों के प्रति अपना समर्थन ही प्रकट किया। किन्तु कुछ राज्य सरकारों और केन्द्र शासित प्रदेश यथा मेघालय और अरुणाचल प्रदेश जहां देशज्ञ पद्धति प्रचलित है, का मत था कि वर्तमान प्रणाली में फेर बदल नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि वह प्रभावशाली ही नहीं अपितु कम खर्च और जन जातियों के द्वार तक ही प्राप्त त्वरित पद्धति है। यह बात समझ ली जानी चाहिए कि जहां न्याय प्रशासन की प्रणाली ग्राम स्तर तक त्वरित, कम खर्च और सरलता से प्राप्त होने वाली है, उसमें किसी प्रकार व्यवधान नहीं डालना चाहिये और जब भी वे राष्ट्रीय मुख्य धारा के अंग बनने चाहें तब संस्तुति किये जा रहे पीठ को अपना सकें।

कार्यशालाएं।

4.2 आयोग द्वारा आयोजित कार्यशालाओं में विधि और न्याय प्रणाली में रुचि लेने वाले अनेक क्षेत्रों के बुद्धिवादियों ने भाग लिया। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशगण, अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशगण, अधिकरणों के सदस्यगण, अधिवक्तागण, विद्वानों, सामाजिक कार्यकर्तागण, जनहित के मुकदमों के समर्थकगण, विधि और न्याय विभाग के अधिकारीगण और वादकारियों ने कार्यशालाओं में भाग लिया और चर्चाओं को गरिमा प्रदान की। आधार पत्र में दिये गये प्रस्तावों के प्रति उन्होंने मोटे रूप में सहमति ही व्यक्त की। इस बात पर करीब-करीब मतैक्य था कि वर्तमान न्यायिक प्रणाली की उपादेयता समाप्त हो चुकी है और वस्तुतः उसका उल्टा प्रभाव हो रहा है। परिवर्तनों का क्षेत्र, परिमाण, दिशा और उनकी मात्रा के बारे में विचार भिन्नार्थ किन्तु परिवर्तन की आवश्यकता के बारे में कोई मत भिन्नता नहीं थी। यथास्थिति के समर्थकों ने यह मानते हुए भी कि न्यायिक प्रणाली सपाट हो चुकी है, कुछ ऊपरी परिवर्तनों की ही बात थी। इसमें पहले के अनुभवों की उपेक्षा की गई थी। कुछ यथास्थिति वादियों का कहना था कि ऐसी प्रणाली जो करीब एक शती से अधिक काल से प्रचलित है, कुछ दिन और चलने देना चाहिये जिससे यह गतिशील हो सके। उन्होंने सुझाव दिया कि इसमें कुछ अतिरिक्त लोग और आधुनिक इलेक्ट्रानिक उपकरणों का प्रयोग किया जाना चाहिये। विधि आयोग की ओर से प्रस्तावों की विशेषताओं का वर्णन करने के पश्चात् चर्चाओं को ध्यानपूर्वक सुना गया, जिससे कोई भी ध्यान देने योग्य सुझाव दृष्टि में आने से न रह जाये। यदि आवश्यकता पड़ी तो

1 L&J/86—3.

आयोग ने चर्चाओं में हस्तक्षेप भी किया। जब आयोग की ओर से अधिक स्पष्टीकरण दिये गये तब उन लोगों ने भी जो पूर्वधारणा को साथ सम्मिलित हुए थे, अपने विचारों में परिवर्तन किया और अन्त में मोटे तौर पर एक सहमति उत्पन्न हुई, एक स्वतन्त्र और निरपेक्ष जनतांत्रिक चर्चा ने घोर नकारवादियों को भी परिवर्तित कर दिया। यद्यपि वे वर्तमान प्रणाली से असंतुष्ट थे और वर्तमान स्थिति के उत्तरदायी तत्वों को पहचानने में भी असमर्थ थे तथा इस बात को सोच पाने में भी असमर्थ थे कि वर्तमान प्रणाली को गतिशील और प्रभावशाली कैसे बनाया जाय। उनकी ओर से विचारणीय कोई भी सुझाव नहीं रखा गया। भाग लेने वालों के विचारों के विश्लेषण से प्रस्तावों के प्रति एक उदात्त सहमति ही प्रथम व्यक्त हुई। समाजसेवी संस्थानों ने कतिपय प्रस्तावों में कुछ परिवर्तनों की इच्छा प्रकट की, यद्यपि वे विवादों के निबटारे के लिये नयी पीठ को बनाये जाने के लिये सहमत थे। ये कानूनी सहायता आन्दोलन, समाज सेवा और लोक अदालत के लिये कार्य करने वाले व्यक्ति थे। उनकी हिचक पैनल की नियुक्तियों और निर्वाचन और चयन तथा साधारण न्यायाधीशों के चुनाव के लिये निर्मित प्राधिकरण को लेकर थी।

कुछ ऐसे भी लोग थे जो वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता को बनाये रखने चाहते थे, यद्यपि उनमें कुछ परिवर्तन किये जाने के पक्षधर थे। उनका मत था कि सारवान न्याय बिना विस्तृत विहित प्रक्रिया का पालन किये हुए, नहीं प्राप्त हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों से आकर भाग लेने वाले कुछ लोगों को यह वास्तविक आशंका थी कि साधारण न्यायाधीश स्थानिक दृष्टि से निर्णय के समय स्वतन्त्र नहीं रह पायेंगे। उनकी आशंका थी कि ग्राम्य जीवन का इतना अधिक राजनीतिक प्रदूषण हो चुका है कि अब गांवों में किसी ऐसे व्यक्तियों को ढूंढ निकालना असम्भव है जो सामाजिक हो, किन्तु राजनीति से परे हो और फिर ग्राम के वातावरण में जाति, वर्ग और धर्म के नाम पर चलने वाले विभाजक तत्व हैं ही। इस लिये ईमानदार समाजसेवी ग्रामीण व्यक्ति को खोज निकालना असंभव होगा, जिस पर यह विश्वास किया जा सके कि वह न्याय कर सकेगा। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कि न्याय करने के लिये विधि का ज्ञान आवश्यक नहीं है उन लोगों ने इस प्रश्न के प्रति अपनी आशंका व्यक्त की कि विधि राज्य से शासित समाज का न्याय प्रशासन बिना विधि प्रशिक्षित व्यक्तियों के चल सके। उनको चिन्ता इस तथ्य के प्रति भी थी कि जातिवाद से ग्रस्त नौकरशाही का तन्त्र साधारण न्यायाधीशों के चुनाव में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यकों और महिलाओं को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से वंचित कर देगा, किन्तु न्याय प्रशासन में जिनका प्रतिनिधित्व अवश्य होना चाहिये।

उन लोगों की कठिनाइयों को ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि वे आधारहीन हैं। नयी पीठ को सभी प्रकार के सुरक्षात्मक उपायों से बचाने के उपाय करने होंगे।

वित्तीय निहितार्थ।

4.3 उपर्युक्त आशंकाओं पर विचार करने के पूर्व कुछ राज्य सरकारों द्वारा प्रस्तुत एक छोटी सी बात पर पहले ही विचार करना ठीक होगा। कुछ राज्य सरकारों को आशंका है कि प्रस्तावित न्यायिक प्रशासन के कारण राजकीय कोषागार पर बहुत ही वित्तीय भार आ जायेगा और यह उनकी क्षमता के बाहर होगा कि प्रस्तावों को प्रभावशाली रूप से क्रियान्वित करने के लिये आवश्यक वित्तीय व्यवस्था कर सके। आयोग को इस बात में कोई दम नहीं दिखाई देता है। प्रत्येक केन्द्रित शासकीय प्रशासन का यह मूलभूत कर्तव्य है कि उनकी अधिकारिता में उत्पन्न प्रत्येक विवाद के हल के विषय आवश्यक मशीनरी की व्यवस्था करें। कोई भी सभ्य सरकार इस उत्तरदायित्व से भाग नहीं सकती है। कोई भी प्रशासन अपने नागरिकों को उनके विवादों के हल प्राप्त करने के लिये अनन्त काल तक प्रक्रियाओं में उलझा कर नहीं रख सकता है। प्रक्रियायें जो खर्चीली और सदैव अपूर्ण रहें। उस मूलभूत कर्तव्य से आवश्यक वित्त को अनुपलब्धि के बहाने मुह नहीं मोड़ा जा सकता है। आयोग का यह भी मत नहीं है कि प्रस्तावित परिवर्तन से सारी वित्तीय बोझ पड़ेगा। इसका यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति के द्वार तक न्याय पहुंचाने की व्यवस्था में होने वाला व्यय विकास के लिये किया गया व्यय है इसे विकास के लिये व्यय न मानने के विचार पर फिर से विचार करना होगा।

फिर राज्य सरकारें न्यायालय शुल्क लगाती ही हैं यह न्यायिक प्रशासन के लिये कर है। यहां आयोग के लिये आवश्यक नहीं है कि न्यायालय शुल्क के विभिन्न पक्षों पर विचार करें। यहां आयोग वर्तमान प्रश्न के लिये इसे आवश्यक दोष के रूप में स्वीकार कर लेता है। न्यायालय शुल्क के सुव्यवस्थाकरण के लिये विधि मंत्रियों की एक समिति ने न्यायिक प्रशासन के खर्च पर आंकड़े एकत्र किये थे। वर्ष 1981-82 के लिये 22 राज्यों ने रुपए 112.71 करोड़ न्यायिक प्रशासन पर किये जाने वाले व्यय से कहीं अधिक होता है। अतः आयोग वित्तीय दबाव के तर्क से जरा भी प्रभावित नहीं है, क्योंकि न्यायिक प्रशासन विकासशील देश में सामाजिक व्यय है। अतः इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपना व्यय स्वयं वहन कर लेता है।

यदि कुछ अतिरिक्त व्यय होता भी है तो प्रस्तावित नई प्रणाली से प्राप्त होने वाले लाभ की अपेक्षा वह कम ही है। लागत के अनुसार लाभ की संरचना संबद्ध बातें हैं। अध्यक्ष न्यायाधीश को गांव में जाकर विवादों को उनके स्थान पर ही निबटाने के लिये यातायात के लिये वाहन देने में यदि कुछ खर्च में वृद्धि होती है तथा साधारण न्यायाधीशों को भत्ता देने में यदि कुछ अधिक खर्च होता है तो उसे वादकारों को होने वाले लाभ से मुजरा कर दिया जाना चाहिये, क्योंकि वादकारों को आज न्यायालय के स्थान तक जाने में अनेक बाधाओं में व्यय करना पड़ता है तथा इसके अतिरिक्त अनेक बार साक्षियों को ले जाने, ले आने, निवास देने, भोजन देने आदि में उसको व्यय करना पड़ता है। एक कार्यशाला में, एक वादकारी ने जो रांची के निकट टापाकारा गांव का रहने वाला था, 1969 से न्याय की खोज में होने वाले अपने अनुभव का सजीव और विस्तार वर्णन किया था। उसने आशंका प्रकट की थी कि यह मुकदमा शायद ही उसके जीवनकाल में समाप्त हो। यह एक छोटा सा विवाद था जिसे उसी स्थान पर थोड़े ही समय में निबटाया जा सकता था। उसने बताया कि वह 10,000/- रुपये व्यय कर चुका था। उसने बताया कि उसे अनेक अवसरों पर साक्षियों को ले जाना पड़ा जिन पर यातायात और भोजन आदि पर प्रति साक्षी औसत 27/- प्रति बार खर्च करना पड़ा। उसने स्पष्ट बताया कि साक्षियों को खरीद रोकने के लिये तथा उसे साक्षियों को अनेक बार खुश करने के लिये मिठाई आदि देनी पड़ी है। इसमें कितने सालब बैंड नष्ट हुए यह चिन्तीय है। यह मुकदमा आंखें खोल देने वाला है।

वादकारियों की कठिनाइयां।

4.4 वाराणसी में अवस्थित हिन्दू विश्वविद्यालय में आयोजित एक कार्यशाला में एक वादकारी ने अपनी व्यथा सुनाई। वह व्यक्ति 1972 से न्याय की खोज में लगा है। उसके कथनानुसार वाराणसी के जिला न्यायालय में औसतन 50,000 वादकारी और साक्षी नित्य आते होंगे। उसके कथनानुसार यातायात और भोजन पर प्रति व्यक्ति 10/- प्रति दिन अवश्य व्यय होता है वाराणसी जिला न्यायालय से सबसे दूर स्थान 58 कि०मी० है। जिला न्यायालय वाराणसी के अधिकारिता के भीतर के अधिकांश ग्राम रेल द्वारा वाराणसी से जुड़े नहीं हैं। बस द्वारा यात्रा कठिन और अत्यन्त कष्टदायक तथा उबाऊ है। प्रत्येक व्यक्ति को औसत 2-30 घंटे से 3 घंटे तक यात्रा एक तरफ तो करनी ही होती है इसके लिये बहुत पढ़े लिये व्यक्ति को आवश्यकता नहीं है जो यह हिसाब लगा सके कि न्याय की खोज में कितना खर्च करना पड़ता है। न्याय की खोज को सीधे सादे शब्दों में विवादों के निपटारा करना चाहिये। लागत और लाभ की संरचना में न्यायालयों की स्थापना और उन पर होने वाले व्यय को नहीं सम्मिलित किया जाना चाहिये वरन वादकारी को यात्रा, उसके भोजन और अन्य व्ययों को जो, उसे न्यायालय में पहुंचने पर करने होते हैं, जोड़ा जाना चाहिये। बहुसंख्य वादकारियों और साक्षियों को न्यायालय तक यात्रा करने की अपेक्षा, अध्यक्ष न्यायाधीश, दो साधारण न्यायाधीश और एक या दो सहायकों का जीप पर यात्रा करना कम खर्चीला है। यह जीप राज्य सरकार द्वारा दी जानी चाहिये। इन व्यक्तियों को कुछ भत्ता भी देना पड़ेगा। लेकिन वादकारियों और साक्षियों की यात्रा, यातायात, भोजन पर होने वाले खर्चों की बचत हो जायेगी। साथ ही साथ समय की बचत भी होगी। इस समस्या के प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए आयोग का यह मत है कि आयोग द्वारा अंस्तुति संरचना अपनाने से गुणात्मक और परिणात्मक लाभ होंगे।

अध्याय 5

कतिपय प्राकल्पित प्रस्तावों की आलोचनात्मक अद्यतियों का परीक्षण और विश्लेषण

रूचि और वैधिक चिन्तन ।

5.1 कुछ सुस्थर तत्वों द्वारा वर्तमान न्यायिक प्रशासन की वर्तमान प्रणाली के प्रति दिखायें जाने वाली अनावश्यक आदर भावना के कारण यदि ऐतिहासिक दृष्टि और भूत काल के अनुभवों को उपेक्षा नहीं कर दी जाती तो यह परम आवश्यक है कि भूतकाल को निरर्थक, केवल ऊपरी परिवर्तनों के प्रयास करने की बात छोड़ दी जानी चाहिये। वर्तमान प्रणाली को चाहे कितनी भी उचित बताया जाये, असफलताओं को नहीं छिपाया जा सकता है। पूर्व में किये गये सभी प्रयास और उनके परिणाम संक्षेप में आधार पत्र में दिये गये हैं। इस प्रणाली को पुनः जीवन और शक्ति प्रदान करने के लिये प्रत्येक प्रयास वांछित परिणाम देने में असफल होते रहे हैं, अपितु स्थिति को और भी जटिल बनाया गया है। अतः नये मार्ग की परिकल्पना अत्यावश्यक हो गई थी। प्रत्येक संगठित समाज में चाहे वह आदिम हो, जन जातियों का हो या कुलवादी हो विवाद उत्पन्न होंगे और इसलिये प्रत्येक ऐसे समाज को इन विवादों को हल करने के लिये पीठ का प्रणयन करना चाहिये। साम्राज्यवादी न्यायालयों की संरचना को लादे जाने के पूर्व विवादित प्रश्नों का हल समाजीकरण द्वारा होता था, जिसमें तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति रहती थी। वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक ग्राम एक पूर्ण राजनैतिक और सामाजिक इकाई होता था। स्थानीय मुखिया और ग्राम सभाएं विवादों को निबटाने के लिये होती थीं। न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता होती थी। साम्राज्यवादी शासन से राज्य न्यायालयों ने विवादों के निबटारे के इस पीठ का कार्य पूर्ण रूप से अपहृत कर लिया।

5.2 इस प्रणाली की सुधार की संभावित दिशा क्या होनी चाहिये इसकी परिकल्पना में पूर्व अनुभव और किये गये प्रयोगों का मूल्यांकन किया जाना चाहिये जिससे इससे कुछ सीखा जा सके। पूर्व प्रयासों के ऐतिहासिक मूल्यांकन से जो स्थिति प्रकट होती है और इस प्रकार जो अनुभव प्राप्त होते हैं वह यही है कि इस प्रणाली में कुछ इधर-उधर परिवर्तन निरर्थक होंगे। इसके विपरीत इससे समस्या दुरूह ही होगी। सामान्य जन को प्राप्त होने वाले लाभ ही कल्पित परिवर्तनों की सफलता और प्रभावशीलता की वास्तविक कसौटी होनी चाहिए। सामान्य जन ही न्याय का भुक्तभोगी है। अभी तक इस प्रणाली को सुधारने के लिये गए सभी प्रयासों का परिणाम बड़ा ही निष्ठुर और निःस्वाद रहा है और उससे यह पाठ सीखा जाना चाहिये कि यदि सामीण जन के मध्य के सरल और निर्दुरूह झगड़ों को वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत वर्तमान ढांचे में ही सुलझाया जाता है तो सारे प्रयास व्यर्थ और निष्फल होंगे। यह प्रयास इस प्रणाली को किसी भी प्रकार प्रभावशाली और समय की आवश्कतानुसार संवेदी नहीं बना सकेंगे। इससे एक ही परिणाम पर हम पहुंचते हैं कि यदि विशिष्ट प्रकार के विवादों के निपटारे के लिये आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन, व्यवस्था, पद्धति और पीठ में नहीं किये जाते हैं तो यह ढांचा अपने ही भार से दब कर ढह पड़ेगा।

विधिक विद्वानों के प्रकाश में इस अवस्था का परीक्षण, प्रणाली का नकारात्मक आवश्यक।

5.3 समस्या को केवल न्यायालयीय प्रबंध की दृष्टि से देखना मूर्खता होगी। दूसरे राज्यों में न्यायालयों में निरन्तर बढ़ने वाले कार्य या भीड़ को सुप्रबन्ध देने की समस्या का समाधान ढूंढना ही प्रश्न नहीं है। इस प्रकार के प्रयास को भारत के संविधान के अंतर्गत घोषित आकांक्षाओं के अनुकूल होना चाहिए। भारत के संविधान का अनुच्छेद 39क निदेशित करता है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि न्याय समान अवसर के आधार पर सुलभ हो और वह विशिष्टतया सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्रणाली प्राप्त करने के अवसर

1. कलमैन कलस्कर पीयुस्स अनसेस इन द कोर्ट्स, कस्डो आन द कोलिशालाजी आफ ला (1982), पृष्ठ 17।

से वंचित न रह जाय, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या अन्य रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा। यह संविधानिक आज्ञा है आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के आधार पर न्याय से वंचित होना ही संक्षेप में समस्या है। संविधान हमें आज्ञा देता है कि न्याय तक पहुंचने में बाधाओं को क्रमबद्ध रूप से समाप्त करें। सरकार के सभी अधिकरणों पर यह मूलभूत उत्तरदायित्व है कि वे प्रसारत हों जिससे न्याय सुलभ हो। अनुच्छेद 40 को, जिसमें प्रदत्त है कि राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठायेगा और उनको ऐसी शक्तियां और प्राधिकार प्रदत्त करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो, नये अनुच्छेद 39क में दी आज्ञा के प्रकाश में फिर से देखा जाना चाहिए।

अनुच्छेद 39क के परिणामस्वरूप नागरिक को न्याय देने से वंचित रखने से न्यायालयी व्यवस्था पर भार।

5.4 अनुच्छेद 39क द्वारा परिकल्पित न्याय तक पहुंचने के मार्ग को कैसे विकसित किया जाय? अभी तक जैसा हम न्याय पंचायतों के संगठन पर चर्चा में देखेंगे, मुख्य विचारणीय बात न्यायालयीय प्रणाली के भार को हल्का करने की ही बात थी न कि नागरिक को आर्थिक या अन्य निर्योग्यताओं के कारण न्याय से वंचित करने से रुकावट करने की बात। अनुच्छेद 39क की आज्ञा है कि अब इन निर्योग्यताओं पर ध्यान हो और ऐसी संरचना की जाय जिससे वे समाप्त हो सकें। अब न्यायालयीय व्यवस्था के भार को कम करने के लिए, विवादों के निपटारे के लिए स्थानीय न्यायालयों के गठन द्वारा समाधान की बात नहीं चल सकती है।

भारतीय विधिक प्रणाली की निर्योग्यतायें।

5.5 अनुच्छेद 39क में उल्लिखित आर्थिक निर्योग्यताओं से भिन्न "अन्य निर्योग्यतायें" भारतीय विधिक प्रणाली द्वारा उत्पन्न वर्तमान कठिनाइयां ही निश्चित रूप से हैं। जैसा पहले ही कहा जा चुका है यह प्रणाली अपने आप में ही लोगों को न्याय प्राप्ति करने में निर्योग्यतायें उत्पन्न करती है। ये निर्योग्यतायें इसलिये उत्पन्न ही होती हैं, क्योंकि स्थानीय स्तर पर विवादों को निबटाने के लिए कोई उपयुक्त मंच या अदालत नहीं है और व्यवसायिक न्याय पर ही जोर दिया जाता रहा है। संविधान द्वारा कल्पित प्रणाली के नवीकरण के लिए यह आवश्यक है कि इन निर्योग्यताओं को दूर किया जाये। व्यवसायिक न्याय करने का प्रतिदर्श यहां भारत में नहीं अपनाया जा सकता—इस कारण ही नहीं कि भारत में 2,50,000 अधिवक्ता हैं, वरन उनमें से अधिकांश शहरों में निवास करते हैं। और इस व्यवसाय की प्रकृति स्वैच्छिक होने के कारण, इस व्यवस्था में यह संभव नहीं है कि कानून के द्वारा उन्हें भारतीय जनता की आवश्यकतानुसार विभिन्न क्षेत्रों में भेज दिया जाये, जिससे वे पर्याप्त रूप से और समान रूप से उपयोगी हो सकें। इस प्रकार के पग का न तो प्रस्ताव किया जाना चाहिए और न उस पर चर्चा। किन्तु यथार्थ को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

वैकल्पिक प्रणाली।

5.6 यदि न्याय देने की व्यवसायिक भारतीय जन की विधिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नहीं की जा सकती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में विचार करें। विकल्प अव्यवसायिक न्याय व्यवस्था ही है। इस प्रकार की व्यवस्था में व्यक्ति की देशजन्यायिक क्षमता और उनकी स्वयं की न्याय बुद्धि को विकसित किये जाने की संभावना है। इसको न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता के द्वारा प्राप्त करने का विचार है।

न्यायिक प्रशासन में।

5.7 स्थान विशेष में उत्पन्न होने वाले विवादों का हल स्थान विशेष के साधारण लोगों द्वारा किया जाना सार्वदेशिक रूप से मान्य है। विश्व के प्रायः सभी भागों में इस प्रकार की संस्थाओं का वर्तमान होना उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है[1]। जस्टिस आफ द पीस इंग्लैंड और यू० एस० ए० में संस्था और रूस में पीपुल्स कोर्ट और थोड़ी भिन्नता के साथ पूर्वीय यूरोप के प्रायः सभी देशों में जिनमें साधारण व्यक्तियों होते हैं—जिनसे

1. जस्टिस आफ द पीस संस्था इंगलैंड में जिसे अपराधिक अधिकारिता के अधिकांश भाग और सिविल अधिकारिता के छोटे भाग किन्तु महत्वपूर्ण भाग का कार्य करना होता है, विदेशियों के आश्चर्य की बात है क्योंकि दुनिया के किसी भी अन्य भाग में ऐसी संस्था नहीं दिखाई पड़ती है। कुछ अपवादों को छोड़ कर तो इस संस्था ने संतोषजनक ढंग से कार्य किया है। यह सुदृढ़ वक्ता भी है।—जी. के. असेल—द क्वीनस पीस, द हैमलिन लेक्चर्स—एसक्व प्रिंटिंग, 1953, पृष्ठ 173।

न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता प्रकट होती है। भारतीय पंचायतों[1] की पृष्ठभूमि की विचार धारा पर करीब-करीब आधारित पूर्णतः साधारण अधिकरणों की स्थापना की दिशा में युगोस्लाविया भी प्रयास कर रहा है। इसी प्रकार का अनुभव पीपुल्स असेसर्स[2] की प्रणाली के बारे में हंगरी का भी है। जन प्रिय असेसर्स और मध्यस्थता करने वाली समितियां कठिनाइयों को दूर करने वाली समितियां और निवासियों की समितियां चीन में कार्यरत हैं और उनमें भी जनता की सहभागिता है। इसी प्रकार की संस्थायें लुसाका, बर्मा और श्रीलंका में हैं। न्यायिक निर्णय करने की पद्धति में साधारण व्यक्तियों की सहभागिता का विचार सदियों पुराना है। इसका प्रारम्भ स्वयं निर्णय वा. झूठे झगड़ों[3] के पश्चात् तीसरे पक्ष के आगमन के पश्चात् हुआ जिसने अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। विवादों को निबटाने के लिए मध्यस्थ की प्रणाली का विकास तब हुआ जब विवादित प्रश्न में मध्यस्थता करने वाला तीसरा पक्ष पर्याप्त आदरणीय और निर्णयों को लागू करने में पर्याप्त शक्तिशाली था[4]। वर्चस्व से राज्य हस्तक्षेप प्रारम्भ हुआ। व्यक्तिगत हानि सार्वजनिक हानि हो गई जिसके कारण ऐसी पद्धति का निर्माण हुआ जिसमें न्याय करना राज्य का कार्य हो गया[5]। किसी न किसी रूप में विवादों को निबटाने में साधारण स्थानीय व्यक्तियों की सहभागिता सर्वत्र ही वर्तमान रही है।

भारत में देशज प्रणाली।

5.8 ब्रिटिश न्याय प्रणाली के आगमन के पूर्व भारत में विवादों के निबटारे के लिए निःसंदेह एक देशज प्रणाली थी। अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य साहित्य, ब्रिटिश न्याय प्रणाली और पाश्चात्य विधि ने प्रत्येक प्राचीन चीज के विरुद्ध एक पूर्वधारणा उत्पन्न कर दी है। फिर भी अपनी देशज प्रणाली का पता लगाने और मूल्यांकन करने से यह लगा कि प्राचीन प्रणाली के मूल तत्व वर्तमान प्रणाली से बहुत भिन्न नहीं थे[6]। दोनों प्रणालियों की तुलना करते समय यह स्वीकार किया गया कि वर्तमान प्रणाली की सहायक विशिष्टता में बेडौल और दुर्वह प्रक्रिया सम्मिलित कर ली गई है जबकि पूर्ववर्ती प्रणाली सरल और कम औपचारिक थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि कोई भी समाज जैसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर प्रगति करता है इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते हैं और कोई भी प्रणाली जो समाज के या समाज के घटनाओं के कार्यों को दिशा प्रदान करती है उसे प्रगतिशील उपान्तरों की आवश्यकता होगी[7]। अतः आधुनिक प्रणाली की रूपरेखा तैयार करने में समाज, जिसके लिए प्रणाली प्रस्तुत की जाती है इस समाज की दशा और ढांचे में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखना होगा।

न्याय पंचायतों को पुनः कार्यशील बनाने के विरुद्ध आशंकाएँ।

5.9 विवादों को भूल स्थानों पर ही हल करने की नई मशीनरी के प्रतिदर्श का गलत ही वर्णन कर उसे पुरानी न्याय पंचायत कहा गया है। आंध्र द्वारा देश के विभिन्न भागों में आयोजित विभिन्न कार्यशालाओं में कुछ संभीर संकोच न्याय पंचायतों को पुनः कार्यशील बनाने को लेकर दिखाया गया है। ऐसा कहा गया है कि ग्रामों के वर्तमान वातावरण में इस पग की असफलता निर्विवाद है। पूर्व अनुभव जनता की न्यायिक प्रशासन में सहभागिता के प्रति अविश्वास पर आधारित था। कुछ भी हो न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता उन व्यक्तियों के मन में संदेह और भ्रम उत्पन्न करता है, जिन्हें यह अवसर कभी प्राप्त नहीं हुआ है। शहरी विशिष्ट जन सोचते हैं कि न्यायिक प्रशासन के लिए विधि का तकनीकी ज्ञान आवश्यक है और जिन्हें विधि में प्रशिक्षित नहीं किया गया है उन पर न्यायिक प्रशासन का भार देकर आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता है। विधि के अनुसार न्याय की विधि जानने वालों

1. भारत सरकार विधि मंत्रालय की न्याय पंचायतों पर स्टडी टीम की रिपोर्ट (अप्रैल, 1962) अध्याय 3, अनुच्छेद 16 पृष्ठ—29.
2. देखें कम्पैरेटिव कंस्टीट्यूशन पीपुल्स असेसर्स इन ए सोशियालाजी आफ लॉ (1983) I.
3. उपर्युक्त—पृष्ठ 17।
4. उपर्युक्त—पृष्ठ 19।
5. उपर्युक्त—पृष्ठ 18।
6. भारत का विधि आयोग—14वीं रिपोर्ट, अध्याय 4, अनुच्छेद 5, पृष्ठ 25।
7. उपर्युक्त।

द्वारा न्याय का अर्थ निकाला जाता है। दूसरे शब्दों में न्याय करने की पूर्व आवश्यकता विधि का विकसित ज्ञान है। विधि के समाज शास्त्रीय अध्येताओं ने अब यह स्वीकार किया है कि न्याय करने के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। विल्हेम आबट विस्तृत सर्वेक्षण के पश्चात् इस परिणाम पर पहुंचा कि "कम से कम नार्वे में" संगठित विवादों के हल में अब शुद्ध विधिक प्रतिदर्श का काम महत्व हो गया है[1]। यदि एक बार यह धारणा समाप्त हो जाय कि न्याय करने में विधि का ज्ञान होना पूर्व आवश्यकता नहीं है और यह धारणा केवल भ्रम है तब सहभागी न्याय के अच्छे प्रतिदर्श पर विचार किया जा सकता है। स्थानीय परम्पराओं, रीतिरिवाजों और स्थानीय हितों की जानकारी न्याय के सहभागी प्रशासन को प्रभावकारी बनायेगी। जूरी प्रणाली इसका सटीक दृष्टान्त है। न्याय में जनता की सहभागिता से भार्कम के उस कथन की असत्यता सिद्ध होगी, जिसमें उसने कहा है कि न्यायालय प्रबल सामाजिक संबंधों का ऐसा हथियार है जिसके द्वारा वह शेष जन समुदाय पर अपना वर्चस्व बनाये रखता है। वास्तव में अधिकरण और वादकारी की सामाजिक स्तर के अन्तर की कमी, प्रक्रिया में अनौपचारिकता और लचीलापन, विवादों अथवा अतिक्रमण के स्थान से सामाजिक और वस्तुगत संनिकटता जन प्रिय न्यायालयों की प्रभावशीलता में अति वृद्धि करती है जिससे कार्यकर्ताओं और निवासियों के आचरण और दृष्टिकोण में परिवर्तन आता है। सहभागी विचारधारा से दो संबद्ध उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, प्रथम इससे श्रमिक वर्ग और ग्रामीण कृषकों का सुलह पैमानों में अंतर्ग्रस्तता सरलता से हो जाती है, जिससे सरकार के विकास कार्यक्रमों और समाजवादी नीतियों की उन्हें अच्छी जानकारी हो जाती है और वे इस बात को भी मान्यता देते हैं कि उस क्षेत्र के अंतर्गत सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं के हल के लिए उन नीतियों को लागू किया जा सकता है। दूसरा इन पैमानों की प्रक्रिया के मध्य इन नीतियों और उद्देश्यों के द्वारा वादकारियों के मूल्यों और दृष्टिकोण को समाज-आदी समाज के अनुरूप नया रूप दिया जा सकता है।

न्याय पंचायत के विरुद्ध आशंकाओं का निराकरण।

5.10 न्याय-पंचायतों को विस्तृत अधिकारिता दिये जाने के प्रश्न पर पूर्व विधि आयोग ने कई आशंकायें प्रकट की थी। इस समय उन आशंकाओं का स्मरण करना उपयुक्त होगा। सिविल जस्टिस कमेटी (1924–25) का मत था कि "जातीय मतभेद और गुटबंदी इन अधिकरणों की अधिकारिता को विस्तृत किये जाने में बाधायें हैं"। यद्यपि इस प्रकार की धारणा के पीछे सत्य हो सकता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसे अत्याधिक महत्व दिया गया है। ग्रामों में जहां समान हितों की रक्षा की जाती है समान सेवायें की जाती हैं और समान कोष व्यय किया जाता है। वहां के समान जीवन की उपेक्षा की जानी उचित नहीं है, क्योंकि वहां भी पड़ोसियों की समस्याओं ने जातिगत मतभेदों के विरुद्ध कार्य किया है और जातिगत मतभेदों को गौण स्थान पर फेंक दिया है।[2] विधि आयोग ने अपनी 14वीं रिपोर्ट में उपर्युक्त कथन को ध्यान में रखकर और इस प्रश्न पर एकत्र साक्ष्य को ध्यान में रखकर कहा, "ये गुट बंदियां और मतभेद सम्पूर्ण देश में बालिगमताधिकार के प्रवर्तन और ग्रामों में राजनैतिक दलों के आविर्भाव से अधिक गहरे हो गये हैं — इन आलोचनाओं और आशंकाओं का अस्वीकार कर दिया। विधि आयोग ने निष्कर्ष निकाला कि कोई कारण नहीं है कि इन न्यायालयों को समुचित सुरक्षात्मक उपायों के पश्चात् सफलतापूर्वक कार्य करने दिया जाय और गांवों में उत्पन्न होने वाले छोट-छोटे विवादों में समझौता कराने या निर्णय करने की छूट क्यों न दी जाय[3]। इसी प्रकार कानूनी सहायता समिति में जिसे गुजरात सरकार ने नियुक्त किया था, जाति, धर्म और राजनीति से विभक्त गुटबंदी से पूर्व ग्रामीण वातावरण पर ध्यान दिया था। उसने भी यह आशंका व्यक्त की थी कि न्याय पंचायतों के सदस्यों से न्याय की आशा करना कठिन है क्योंकि उनका संबंध किसी न किसी गुट या समूह से होता है[4]। किन्तु उनकी यह झिझक इस विचार से

1. नीलम लिन्फोसलन : द आयडियालाजी ऑफ पापुलर जस्टिस इन थी लंका का पृष्ठ 7।
2. रिपोर्ट ऑफ द सिविल जस्टिस कमेटी पृष्ठ 116 जिसे भारत के विधि आयोग के चौदहवीं रिपोर्ट, अध्याय 43, अनुच्छेद 7, पृष्ठ 367 पर उद्धृत किया गया है।
3. भारत का विधि आयोग, चौदहवीं रिपोर्ट अध्याय 43, अनुच्छेद 35, पृष्ठ 911 और 913।
4. रिपोर्ट आफ द लीगल एड कमेटी "गुजरात सरकार" 1971 अनुच्छेद 13, 14 "बी" पृष्ठ 211।

दूर हो गई कि न्याय पंचायतों की थोड़ी फेरबदल करने से वे स्थान पर वादकारी के द्वार पर ही न्याय देने की प्रभावशाली माध्यम बन सकती है। इसका ग्रामों के आर्थिक जीवन पर भी अच्छा परिणाम होगा क्योंकि यह सस्ती न्याय प्रणाली होगी और न्याय पाने में विनष्ट होने वाला समय भी बच जायेगा। इस परिवर्तित न्यायिक प्रशासन की प्रणाली से जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव गांवों पर होगा इसका तो अंदाजा ही नहीं लगाया जा सकता है क्योंकि यह न्याय उनके अपने लोग द्वारा होगा किसी विदेशी द्वारा नहीं। संभावित कमियों के विरुद्ध रक्षोपाय प्रदान करें, उन पर विश्वास करें, उनकी अवहेलना न करें। कोई भी नवीनता आशंकित खतरों से भरी होती है किन्तु इतने से ही उसको आया नहीं मान लिया जाना चाहिए।

न्याय पंचायत के नये पीठ के लिए संवैधानिक औचित्य।

5.11 जनता की सहभागिता से न्यायिक प्रशासन के अन्तर्गत विवादों के समाधान के लिये एक पीठ का निर्माण संवैधानिक लक्ष्य है जिसकी आज्ञा अनुच्छेद 39क में दी गई है। यह सर्वथा उचित है कि प्रक्रिया सरल हो जिससे विवादों के निपटान में कम समय लगे साथ ही साथ कम खर्च, प्रभावशील न्याय और वह सारवान भी हो। राज्य न्यायालयों से न्यायिक प्रशासन में सहभागिता तक ही यहां उद्दिष्ट है।

न्याय पंचायत संस्था न्यायालय तंत्र।

5.12 न्याय पंचायतों की वर्तमान दशा में प्राप्त दुखद अनुभव के कारण और वर्तमान मंच को एक सुभिन्न स्तर देने के लिये जो वर्तमान न्याय पंचायतों से एकाधिक प्रकार से भिन्न है तथा इनसे कई पग आगे हैं—नये मंच के लिये नये नाम पर विचार करना उपयुक्त समझा गया। इसके लिये अनेकानेक सुझाव आये। इस नये मंच के लिये नाम का चुनाव करना जटिल समस्या थी। न्याय पंचायत नाम का सुझाव अधिकतर प्रस्तावित हुआ था, किन्तु इस नाम से इसकी भूतकाल में असफलता के कारण एक कलंक जुड़ा था। लोक अदालत आजकल एक जन प्रिय बात हो गई है। इस नाम को इस लिये अस्वीकार कर दिया जाना चाहिये क्योंकि यह जन साधारण द्वारा स्वैच्छिक संगठन माना जाता है। जिसमें किसी को बाध्य नहीं किया जाता कि वह अपना वाद इससे निर्णीत कराये। आयोग की संस्तुति ग्राम स्तर पर अधिनियमित न्यायालय की स्थापना के बारे में है। इसकी अधिकारिता वैकल्पिक नहीं है। यदि विवाद इस प्रकृति का है जो प्रस्तावित पीठ की अधिकारिता के अन्तर्गत आता है और उसकी अधिकारिता के अधीन स्थान विशेष की सीमान्तर्गत है तो पक्षकारों को यदि वे विवाद का निपटारा चाहते हैं तो कोई विकल्प नहीं है। उन्हें इनकी शरण लेना पड़ेगा। अतः लोक अदालत नाम ध्वन्यात्मक भी नहीं होगा और इससे भ्रम उत्पन्न होगा। अनेक वैकल्पिक सुझावों का परीक्षण करने के उपरान्त आयोग अनुभव करता है कि ग्राम न्यायालय, नये पीठ को पर्याप्त रूप से वर्णित करने में सक्षम है।

ग्राम न्यायालय की संरचना।

5.13 प्रस्तावित पीठ की संरचना के संबंध में मतैक्य नहीं था। कुछ सामाजिक और ग्राम स्तर के कार्यकर्ताओं का मत था कि इसे पूर्ण रूप से निर्वाचित होना चाहिए। उनके अनुसार यह निर्वाचन गांव के लोगों द्वारा प्रत्यक्ष या ग्राम पंचायत के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष होना चाहिये। वर्तमान न्याय पंचायत के कटु अनुभवी व्यक्तियों ने ग्राम न्यायालय की संरचना में विधि प्रशिक्षित लोगों को नियुक्त किये जाने की बात कही। उनके अनुसार इससे वरिष्ठ न्यायालयों के आक्रोश से बचाव होगा और विधि प्रशिक्षित व्यक्ति को न्याय करने दिया जाना चाहिए, इस विचार को भी मान्यता मिलेगी। विधि प्रशिक्षित लोगों को यह कार्य सौंपने के समर्थकों का सुझाव था कि मुंसिफ मजिस्ट्रेट सिविल जज "कनिष्ठ विभाग" प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट को यह कार्य सौंप दिया जाना चाहिए। कुछ ने अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की सेवा का उपयोग करने की बात कही है। एक ऐसा मत था जो ध्यान देने योग्य भी है, वह है उच्च स्तर के न्यायाधीशों को ग्राम न्यायालय का कार्य सौंपा जाना चाहिए, जिससे वादकारियों में विश्वास उत्पन्न हो।

---

1. न्याय पंचायत प्रणाली की सम्यक आलोचनात्मक पुनर्विलोकन के लिये देखें यू० बक्शी : द जर्नल्स आफ द इंडियन लीगल, सिस्टम (1982) अध्याय 10 पृष्ठ 295—327।

संविधान का लक्ष्य है कि न्याय सस्ता, सुलभ अनौपचारिक और सारवान हो। न्याय की गुणवत्ता तो पीठ की प्रकृति पर निर्भर करेगा जिसे न्याय करने के लिए नियुक्त किया जाना है। यह बहुत बार कहा जाता है और कभी-कभी भावावेश में कहा जाता है कि हम विधि के द्वारा शासित होना चाहते हैं न कि किसी व्यक्ति द्वारा शासित हैं। लेकिन व्यक्ति जो न्याय देने के मामले में समाज पर शासन चाहता है उसे परिपक्व, सहजबुद्धि, बिना पूर्वाग्रह, राजनीतिक दबावों से दूर, धर्मान्धता और जातिगत मतभेदों से दूर होना चाहिए। निर्वाचित निकाय में आदर प्राप्त समाजनिष्ठ ग्राम कार्यकर्ता हों यह सुनिश्चित किया नहीं जा सकता है—विधि प्रशिक्षित व्यक्तियों की कौन कहे? अतः ग्राम न्यायालयों के प्रति ग्रामीण जन में विश्वास उत्पन्न हो यह आवश्यक हो गया कि एक ऐसी पीठ हो जिसकी अध्यक्षता विधि प्रशिक्षित व्यक्ति करे। यह विधि प्रशिक्षित व्यक्ति ग्रामीण विवादों को केवल विधिक और तकनीकी ढंग से न निपटावे। इसके लिए उपयोगी होगा कि उसमें दो ऐसे व्यक्ति हों जो ग्रासरूट के कार्यकर्ता हों, शिक्षित हों और समाज निष्ठा हों। तीनों मिलकर ग्राम न्यायालय की रचना करेंगे। यह बहुत विशाल भी नहीं होगा और इसे राज्य न्यायालयों में पहुंचने की सुविधा और न्यायिक प्रशासन में साधारण जन की सहभागिता की सुविधा भी होगी। विधि प्रशिक्षित व्यक्ति को सम्मिलित किये जाने का उद्देश्य है न्याय किये जाने में सारवान विधि के आदर को सुनिश्चित करना। इससे वर्तमान प्रणाली की किसी न किसी रूप में निरन्तरता भी बनी रहेगी। यह प्रयास विधि प्रशिक्षित न्यायाधीश और समाजनिष्ठ ग्रामीण कार्यकर्ता के मध्य पारस्परिक प्रभाव से न्याय देने का है। यह पीठ न्याय दिये जाने में वरिष्ठ न्यायालयों की काल्पनिक आशंका को भी समाप्त करने में सहायक होगा।

ग्राम न्यायालय से विधि प्रशिक्षित न्यायाधीश होगा जो सुनिश्चित रूप से इसी उद्देश्य के लिये गठित जनों के काडर से संबंधित होगा। ग्राम न्यायालय के लिये विधि प्रशिक्षित न्यायाधीश चयन के लिये राज्य को पंचायतराज न्यायाधीशों का एक काडर बनाना पड़ेगा। साधारणतः ये राज्य के अधीनस्थ न्यायपालिका के अंग होंगे। इस न्यायाधीश की भी वही अर्हताएँ होनी चाहिये जो अर्हताएँ उसे मुंसिफ मजिस्ट्रेट या सिविल जज और प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट बनने के लिये चाहिये। यह किसी सीमा तक वर्तमान प्रणाली को निरन्तरता को बनाये रखेगा।

इस प्रकार ग्राम न्यायालय में पंचायती राज न्यायाधीश और दो साधारण न्यायाधीश होंगे। यह सुझाव दिया गया था दो साधारण न्यायाधीश की जगह चार साधारण न्यायाधीश होने चाहिये जिससे प्राचीन भारत की पंच की एतिहासिक परम्परा प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो। आयोग का मत है कि स्थायी संगठन के लिये पांच न्यायाधीशों का प्रत्येक अवसर पर उपलब्ध होना समस्याजनक होगा और ग्राम्य स्तर पद के विवादों के लिये यह बहुत भारी भरकम भी होगा। अतः सुसंगत संगठन के लिये आयोग ने पंचायतराज न्यायाधीश सहित तीन सदस्यीय निकाय के पक्ष में ही अपनी राय दी। आयोग के इस पहुंच मार्ग को अपनाने में उसका यह सुनिश्चित करना उद्देश्य था कि विवादों के समाधान के समय यदि कोई विधि का प्रश्न पीठ के समक्ष उपस्थित होता है तो उसे हल करने के लिये प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध रहे। यह विधि प्रश्नों पर दो साधारण न्यायाधीशों की सहायता करेगा। दो साधारण न्यायाधीश परम्पराओं, रिवाजों और ग्रामीण समस्याओं के ज्ञान से निर्णयों को अधिक सुदृढ़ बनायेंगे। निर्णय करने में इस तरह से उस न्यायाधीश का जो भिन्न स्थान और दूसरे वातावरण में उत्पन्न और बड़ा हुआ है और जिसे प्रचलित विधि की जानकारी है—और न्याय करने में सामान्य बुद्धि के अयोग एक दूसरे को प्रभावित करेंगे। परिणामस्वरूप हमें विधि अनुरूप ही न्याय नहीं अपितु सामान्य बुद्धि साम्या और सद्विवेक अनुसार न्याय प्राप्त होगा। ऐसी आशा की जाती है कि यह जटिल प्रक्रिया और साक्ष्य अधिनियम के प्रतिपादनों से भी मुक्त होगा।

सभापति न्यायाधीश का चयन।

5.14 पंचायतीराज न्यायाधीश के चयन में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होनी चाहिये। जैसा कि उसका चयन मुंसिफ मजिस्ट्रेट सिविल जज (कनिष्ठ विभाग) न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी के काडर से होना है कुछ समय के लिये उनका भी चयन उसी ढंग से किया जायेगा, जिस ढंग से राज्य

सेवा आयोग द्वारा चयन किया जाता है, जिसमें आयोग की सूचनानुसार, संबंधित उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश भी भाग लेता है। उदाहरण के लिये यही प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिये। प्रस्तावित पीठ इस प्रकार स्थापित की जानी चाहिये कि इसके समक्ष उपस्थित होने वाले वादकारियों में इसके प्रति विश्वास उत्पन्न हो सके। इस हेतु यह वांछनीय है कि राज्य न्यायिक सेवा के सबसे निचले सोपान के सदस्य का जिसे पिछले तीन वर्षों का अनुभव प्राप्त हो, इस कार्डर के लिये चयन किया जायेगा। यह चयन उच्च न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिये।

न्यायाधीशों का चयन

5.15 साधारण न्यायाधीशों का चुनाव करना अत्यन्त कठिन समस्या थी। इसके लिये बड़े प्रतिवादी विचार रखे गये। अशासकीय समाज सेवी संस्थाओं में उनके चयन के पक्षधर थे तो दूसरी ओर पूरी तरह निर्वाचित पद्धति अपनाये जाने के पक्षधर भी थे। कुछ दूसरे लोग थे जिनका विचार था कि यदि एक बार निर्वाचन की प्रणाली का स्थान चयन या नामांकन सिद्धांतो ने ले लिया तो सहभागी न्याय की जड़ पर ही प्रहार हो जायेगा और चयन करने की शक्ति का दुरुपयोग होगा। ऐसा कहा गया कि जिनमें यह शक्ति निहित की जायेगी वह शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे जिससे राजनीति को विलग नहीं किया जा सकता है और एक बार चयन पद्धति में राजनीति घुस गई तो यह न्याय पद्धति के मूलभूत सिद्धांत को ही समाप्त कर देगा। मूलभूत सिद्धांत है कि न्यायाधीशों को राजनीतिक प्रभाव या धारणाओं से मुक्त होना चाहिये यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि कोई भी समाधान कमियों से रहित नहीं है, जिससे सभी लोगों को संतुष्ट किया जा सके।

निर्वाचित प्रणाली के पक्षधरों का कहना था कि यदि सहभागिता पर आधारित न्याय के प्रति विश्वास प्राप्त करना है तो पीठ में जनता के चुने प्रतिनिधि होना चाहिए। ये लोग मँगना कार्य सिद्धांत के पक्षधर हैं। जिसके अनुसार जनता के अपने लोगों द्वारा न्याय होना चाहिये। उनकी मान्यता है कि निर्वाचन न रखने से सहभागी न्याय तत्व विहीन हो जायेगा। निर्वाचन के सिद्धांत को बिना माई दोरजी रिपोर्ट और बलवंतराय मेहता समिति की रिपोर्ट का समर्थन प्राप्त है। अशोक मेहता समिति निर्वाचन के पक्ष में नहीं थी। राजगोपाल समिति ने निर्वाचन सिद्धांत की वकालत की है। जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में निर्वाचित न्यायाधीश के सिद्धांतों की बात अन्तर्निहित है। यह संभव नहीं है कि गांव के राजनीतिक वातावरण की पूर्णतया उपेक्षा कर दी जाय। पंचायतों के निर्वाचन दलगत आधार पर होते हैं। निर्वाचन से निर्वाचकों में विलगाव होता है। इसके कारण गर्मी पक्षपात और लगाव उत्पन्न होता है। इसके कारण हिंसा होती है और दलगत वातावरण ग्रामों को जाति समप्रदाय और धर्म के आधार पर पुनः विभक्त कर देता है। यदि एक बार निर्वाचन पद्धति अपना ली जाती है तो इसके दुरुपयोग से बचना कठिन होगा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि देश के राजनैतिक प्रबंधकों/कर्णधारों का चुनाव प्रत्यक्ष निर्वाचन से ही होता है। यह लक्ष्य होना ही चाहिये, किन्तु जब न्यायाधीशों की बात आती है तब कुछ अन्य विचारों को ध्यान में रखना पड़ता है। प्रायः अधिकांश लोगों का यह मत था कि न्यायाधीशों के चयन या निर्वाचन में राजनीति का समावेश नहीं होना चाहिये। एक बार यदि निर्वाचन पद्धति अपनाई गई तो यह कठिन होगा कि राजनीति से बच जाय। इसमें कोई संदेह नहीं है कि निर्वाचन पद्धति को समर्थन देने वालों में राजस्थान के मुख्यमंत्री बनवासी सेवा मण्डल के निदेशक तथा अन्य कई लोग हैं किन्तु इस विचार का विरोध भी उतना ही दृढ़ है। किन्तु सबसे कर मत चयन के ही पक्ष में था, निर्वाचन के विरुद्ध था।

यदि हम एक बार निर्वाचन को अस्वीकार कर देते हैं तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि पैनल के सदस्यों का निर्वाचन या नामांकन की क्या पद्धति हो। इससे दो प्रश्न उत्पन्न हुये—1. साधारण न्यायाधीशों के पैनल का चयन या नामांकन करने की शक्ति किस में निहित हो? और 2. पैनल को अंतिम रूप कौन दे?

पैनल का चयन करने की शक्ति जो और अधिकरण

5.16 इस प्रकार के अधिकरण के चयन में जो राज्य की न्यायिक शक्ति से निहित व्यक्ति का चयन करे ऐसा अधिकरण होना चाहिये जो बाह्य दबावों से यथा संभव दूर रह सके। इस अधिकरण के पास ऐसे साधन भी होने चाहिये जो प्रस्तावित व्यक्ति के सही पूर्ववृत्त को एकत्रित कर सके। एक मत था कि यह पैनल जिला मजिस्ट्रेट, खण्ड अधिकारी, विधायक आदि द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिये और इसे अंतिम रूप जिला और सम न्यायाधीश द्वारा दिया जाना चाहिये। दूसरा मत था कि जिला मजिस्ट्रेट और जिला न्यायाधीश के स्थानांतरण जल्द होते रहते हैं। अतः प्रस्तावित नामांकन के लिये व्यक्ति के पूर्ववृत्त की विस्तृत जानकारी उन्हें नहीं हो पाती है इस कारण यदि वर्तमान अधिकारियों की नियुक्ति छः माह से अधिक की नहीं है तो पूर्व जिला मजिस्ट्रेट और जिला न्यायाधीश की सहायता इस कार्य में ली जा सकती है। आधार पत्र के उत्तर में उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश का मत था कि साधारण न्यायाधीशों के पैनल को अंतिम रूप जिला न्यायाधीश द्वारा अकेले ही दिया जाना चाहिये। वह तालुका स्तर के न्यायाधीशों, मुख्य न्यायिक मजिस्ट्रेट, जिला मजिस्ट्रेट आदि की राय अंतिम रूप देने में ले सकता है, किन्तु इन मामलों में अंतिम निर्णय उसी का होना चाहिये। क्योंकि जिला मजिस्ट्रेट अधिकांशतः संग्राहक या उप आयुक्त होते हैं जो स्वतन्त्र कार्य नहीं कर पाते हैं। उनका सुझाव था कि इस बात की भी कोई आवश्यकता नहीं है कि उच्च न्यायालय से साधारण न्यायाधीशों के पैनल के लिये अनुमोदन प्राप्त किया जाय, क्योंकि इससे देर होगी और वहां प्रशासकीय कार्य बढ़ेगा। इसके स्थान पर उच्च न्यायालय के पास पुनरीक्षित करने की शक्ति होना चाहिये जिसे वह स्वयं प्रेरणा से अथवा शिकायत पर प्रयोग कर सके।

एक दूसरे विद्वान न्यायाधीश का सुझाव था कि जिला मजिस्ट्रेट से प्राप्त नामों के सुझाव पर जिला न्यायाधीश अकेले ही पैनल की नियुक्ति करें। उनको डर था कि जिला मजिस्ट्रेटों पर राजनीतिक दबाव पड़ सकता है और यदि राजनैतिक दबाव पड़ सकता है तो जिन तत्वों ने निर्वाचित न्याय पंचायतों को बिगाड़ दिया है वही हाल इस नई स्कीम का भी होगा।

अनेक सुझाव पर गहराई से विचार करने पर आयोग का यह मत है कि जिला मजिस्ट्रेट और जिला न्यायाधीश के कार्यों का परस्पर परिणाम यह होगा कि पैनल सक्षम लोगों का बनेगा जो राजनैतिक, जातिगत, सांप्रदायिक, धार्मिक या वर्गगत विचारों से दूर होंगे। अतः जिला मजिस्ट्रेट और संबंधित जिला के जिला न्यायाधीश की चयन समिति प्रत्येक जिले में इस उद्देश्य के लिये बनायी जानी चाहिये। प्रारम्भ में जिला मजिस्ट्रेट और जिला न्यायाधीश अलग-अलग पैनल बनायें जिनमें पैनल में नियुक्तियों की संख्या से बहुत अधिक नाम हों। उसके पश्चात् वे उन सूची का आदान-प्रदान कर लें और कुछ दिनों बाद एक साथ बैठ कर उसे अन्तिम रूप दे दें। साधारण न्यायाधीशों के पैनल का चयन यथा संभव एकमत से होना चाहिये और ऐसा न होने पर जिला मजिस्ट्रेट और जिला सत्र न्यायाधीश को अपनी अलग-अलग सूचियां और एक दूसरे की सूची में नामों पर आपत्तियां समिति के अन्य सदस्यों को संस्तुति के साथ देनी चाहिये और यह पूरा पैनल चाहे यह समिति से ही अथवा अंशतः समिति से हो अथवा अलग-अलग हो न्यायाधिकारिता रखने वाले उच्च न्यायालय को भेज दिया जाना चाहिये। मुख्य न्यायाधीश अपने दो सहयोगी न्यायाधीशों के साथ विचार-विमर्श के पश्चात् इसे अन्तिम रूप दे देगा। उसे इस बात की छूट होगी कि वह चयन समिति के सदस्यों द्वारा अलग-अलग सूचियों में या पैनल में उल्लिखित नामों के बारे में अतिरिक्त सूचना मंगा लें। यह चयन उसी जिले के निवासियों के मध्य से ही किया जाना चाहिये। पैनल तैयार करने में चयन समिति को सदस्य पैनल के लिये प्रस्तावित सदस्य के पूर्ववृत्त को अपने अधीनस्थ से प्राप्त करने की अधिकृत होगी। चयन समिति के सदस्यों को यथासंभव प्रत्यक्ष सूचना अधिकृत स्रोतों से प्राप्त करनी चाहिये जिसे चयन समिति के किसी सदस्य द्वारा प्रस्तावित व्यक्ति के बारे में पूर्ववृत्त की जांच की जा सके। यह आवश्यक होना चाहिये कि चयन के लिये प्रस्तावित व्यक्ति इसके आगे नियत किये गये मानदंडों को पूरा करे।

चयन समिति के सदस्यों के लिये यह भी स्वतंत्रता होगी कि वे सामाजिक कार्यकर्ताओं अथवा जिले की समाज सेवी संस्थाओं के पदाधिकारियों से भी इस संबंध में चर्चा करें। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि पैनल में जिले की प्रत्येक तहसील या तालुका का प्रतिनिधित्व हो। समाज के कमजोर वर्गों, अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्यों, महिलाओं और पिछड़ी जातियों के सदस्यों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलने को सुनिश्चित करना चाहिये।

शैक्षिक एवं अन्य अर्हताएं।

5.17. साधारण न्यायाधीशों की न्यूनतम अर्हताओं के बारे में अनेक विचार रखे गये। ऐसा कहा गया कि साधारण न्यायाधीश की शिक्षा भले ही न्यून हो किन्तु उसे निष्ठावान, चरित्रवान और उत्तरदायी होना चाहिये। सामान्य तथा राजनैतिक दलों के सक्रिय कार्यकर्ता, धनी व्यक्ति, बड़े जोतदार और कर्जा देने वालों को दूर रखा जाना चाहिये। दलित और संचित वर्ग के लोगों को वरीयता देनी चाहिये। शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, गैर शासकीय संगठनों के पदाधिकारियों, समाज सेवी संस्थाओं के अधिकारियों को पैनल के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। एक वक्ता ने कहा कि उनकी आयु 25 वर्ष और 80 वर्ष के बीच होनी चाहिये। शैक्षिक योग्यता के बारे में कहा गया कि चयन किये जाने वाला व्यक्ति डिग्रीधारी होना चाहिये और यदि ऐसा व्यक्ति उपलब्ध नहीं है तो उसे कम से कम उच्चतर माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण होना चाहिये। राष्ट्रीय पुरस्कारों को प्राप्त करने वाले यदि गाँवों के निवासी हैं तो उनको वरीयता दी जानी चाहिये। एक मत यह भी था कि व्यवसायों से संबंधित व्यक्ति और सेवा में रत व्यक्ति अपने कार्य को संतोषपूर्वक करेंगे अपेक्षाकृत छोटे किसानों या छोटे दुकानदारों या अन्य लोगों के। वर्ष में कम से कम 260 दिन का क्षेत्र में निवास उसे पैनल में रहने की योग्यता प्रदान करेगा। कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने कहा कि यदि शैक्षिक योग्यता नियत की जाती है तो यह दुष्परिणामकारी होगा। दूसरे 75% स्थानीय निवासी पैनल के लिये विचार योग्य ही नहीं माने जायेंगे।

शैक्षिक योग्यता के निर्धारण का क्या औचित्य है? इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रस्तावित ग्राम न्यायालय के समक्ष आने वाले विवाद दुरूह नहीं होंगे और उन्हें विवादों में सरल प्रक्रिया का पालन करना होगा। शिक्षा व्यक्ति के विचारों को उदार, मूल्यों के प्रति जागरूक और सामान्यतः व्यक्तित्व का निखार करती है। उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया से परिचित कराने के लिये प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम निर्धारित किया जाना है। उन्हें उनके समक्ष उपस्थित होने वाले साक्ष्य को तोलने योग्य होना चाहिये अतः यह वांछनीय है कि उनके पास कुछ शैक्षिक योग्यता होनी चाहिये।

न्याय पंचायतों पर अध्ययन दल ने जैसा कहा है[1] भारत के सभी भागों में एक सी व्यवस्था नहीं है। इनमें स्थान-स्थान पर बहुत अधिक अन्तर है। किन्हीं स्थानों पर तो यह संभव है कि विधि के स्नातक इन न्यायालयों में काम करने के लिये प्राप्त हो जायें किन्तु कुछ पिछड़े भागों में यह भी संभव है कि प्राथमिक शैक्षिक योग्यताओं वाले लोग भी न मिले। इसके अतिरिक्त ग्रामीण थोड़ी सी प्राथमिक शिक्षा प्राप्त होने पर शहरों को आव्रजन कर जाते हैं।

सभी पक्षों पर विचार करने पर स्नातक डिग्री की योग्यता निर्धारित करना मध्य का सुरक्षित मार्ग है, जिसके न उपलब्ध होने पर उच्च माध्यमिक स्कूल स्तर की शिक्षा भी वैध होगी। शैक्षिक योग्यता को वांछनीय माना जाना चाहिये न कि न्यूनतम अर्हता। अनुसूचित जातियों, जन जातियों, पिछड़े वर्गों, महिलाओं के चयन में शैक्षिक योग्यता की अर्हता को छोड़ दिया जाना चाहिये यदि शिक्षित लोग पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं होते हैं। चयन किये जाने वाले व्यक्ति 30 और 65 आयु वर्ग के होने चाहिये।

अनर्हताएँ।

5.18. न्याय के स्रोत को कतिपय तत्वों से मुक्त रखने के लिये कुछ नकारात्मक निष्कर्ष भी निर्धारित किया जाना चाहिये। भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी मत इस मुद्दे पर प्रकट किये गये, किन्तु वे एक बिन्दु पर सहमत थे कि साधारण न्यायाधीश राज्य प्रदत्त न्यायिक शक्ति

1. न्यायपंचायतों पर अध्ययन दल की रिपोर्ट, पृष्ठ 63।

का प्रयोग करेंगे। और जैसी संविधान की भी आज्ञा है कि न्यायाधीशों को राजनीतिक प्रभाव से मुक्त होना चाहिये। सक्रिय राजनीतिक दल के कार्यकर्ताओं को इसके विचार योग्य नहीं समझा जाना चाहिये। सामान्यजन में विश्वास उत्पन्न करने के लिये इस सामान्यजन के युग में विशिष्ट जनों, धनी व्यक्तियों, धनाढ्य और बड़े कृषकों और ऊंचे वेतन भोगी सेवाओं में नियुक्त व्यक्ति और कर्ज देने वालों को इसमें विचार योग्य नहीं समझा जाना चाहिये। नैतिक अपराधों में सजा प्राप्त, आर्थिक अपराधियों, दिवालिये तथा अन्य इसी प्रकार के व्यक्तियों को भी विचार योग्य नहीं समझा जाना चाहिये। ग्राम न्यायालयों को विशिष्टता प्राप्त मार्ग अपनाने से पूर्णतः मुक्त होना चाहिये। इसका उद्देश्य सामान्य जन को दृष्टि में रखकर न्याय देना होना चाहिये। साधारण न्यायाधीशों को समाज के प्रभावशाली और रुतबा वाले तत्वों से प्रभावित होने से बचना चाहिये। समाज के वंचित वर्ग के सदस्य और धनी व्यक्ति के मध्य असमान लड़ाई में उनके धन शक्ति के विरुद्ध खड़े रहने की क्षमता होनी चाहिये। ग्राम न्यायालयों को राजनीतिक छीना-झपटी आर्थिक दबाव और असमाजिक तत्वों के भय से मुक्त रखने के लिये यह आवश्यक हो गया है कि बहुत अच्छे रिकार्ड न रखने वाले कतिपय व्यक्तियों को दूर ही रखा जाये। इस सामान्यजन के युग में न्याय उच्च जातियों, प्रभावी वर्गों, समाज के धनी वर्गों, असामाजिक तत्वों, कालाबाजारियों एवं जमाखोरों और सूदखोरों तथा उच्च वेतन-भोगियों का एकाधिकार नहीं माना जाना चाहिये। यदि साधारण न्यायाधीशों पैनल में चयन किये जाने के लिये इन निर्देशों को जाता है तो इस बात के लिये युक्तियुक्त विश्वास किया जा सकता है कि अच्छे आदरणीय सामान्य व्यक्ति, ग्रामीणजन साधारण न्यायाधीशों के पैनल में अपना स्थान प्राप्त कर सकेंगे। इस रिपोर्ट की मुख्य भूमिका में ऐसे ही जन की प्रभावशाली सहभागिता है।

ग्राम्य क्षेत्रों में अनेक स्वयं सेवी समाजसेवी संस्थाएँ हो गई हैं। जिला स्तर पर इनकी सहायता पैनल बनाने में ली जानी चाहिये। इन नवीन पगों की सफलता साधारण न्यायाधीशों के चयन पर ही निर्भर करता है। यदि नयी पीठ में सही ढंग के लोग हुए तो इसका विश्वास भी प्राप्त होगा और सफलता भी मिलेगी।

न्यायाधीशों की दृष्टि को सुस्पष्ट करने के लिये उनका प्रशिक्षण।

5.19 ग्राम न्यायालयों को वादों के विषय वस्तु और वादकारियों के प्रति उनकी पहुंच को सुस्पष्ट करने के लिये विवादों और मतभेदों को समाप्त करने में यह अत्यावश्यक है कि पंचायती राज न्यायाधीश को ही नहीं वरन् पैनल के अन्य सदस्यों को भी प्रारम्भिक प्रशिक्षण दिया जाये। सभी तीनों को प्रशिक्षण देना आवश्यक है, जिससे पीठ में एक नये वातावरण की सृष्टि होगी, जिसे औपचारिक तकनीकी मार्ग से बचाया जाना आवश्यक है। कार्यवाही का प्रारम्भ स्वैच्छिक समझौता के प्रयास से होना चाहिये और पक्षकारों को मतभेदों को कम से कम करने का प्रयत्न होना चाहिये। विवादों को समझौते और सहमति के सभी प्रयासों से समाप्त किया जाना चाहिये। पंचायतीराज न्यायाधीश को कानून के ज्ञान और सामाजिक न्याय द्वारा विवाद के कारणों को अनौपचारिक और अव्यवसायिक वातावरण में निबटाने में सहायता करनी चाहिये। पैनल के सदस्यों को जाति, वर्ग, वर्ण, लिंग या धर्म की पूर्वधारणाओं से मुक्त रहकर निर्णय देने की प्रक्रिया से प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। उन्हें न्याय के मूलभूत सिद्धांत निर्बल और कम भाग्यवान व्यक्ति को वर्ग शोषण का शिकार नहीं बनने देना चाहिये—से परिचित कराना चाहिये। यह प्रशिक्षण तीन माह की अवधि तक भी हो सकता है। विधि के आदर्शों, विधि की समाजशास्त्रीयता, न्याय प्रणाली के उद्देश्य और लक्ष्य में परिवर्तनों से परिचित कराने के लिये पुनर्भ्यास पाठ्यक्रम प्रस्तावित पीठ के सदस्यों के लिये अत्यधिक सहायक होगा।

विधि आयोग ने अपनी 59वीं रिपोर्ट (1974) में इस बात पर बल दिया था कि पारिवारिक विवादों को निबटाते समय न्यायालयों को साधारण सिविल कार्यवाहियों में अपनायी जाने वाले मार्ग से एकदम भिन्न मार्ग अपनाना चाहिये और उसे सुनवाई करने से पूर्व समझौता कराने के सभी उचित प्रयास करना चाहिये। तदनुसार सिविल प्रक्रिया संहिता, 1976 संशोधित कर दी गई, जिसमें यह विशेष उपबन्ध स्वीकार किया गया कि परिवार से संबंधित मुकदमों या कार्यवाहियों में न्यायालय पक्षकारों की इस बात में सहायता करेगा कि आदेश 22क नियम 3 में निर्दिष्ट पारिवारिक विवादों का समझौता द्वारा हल हो और नियम 4 यह प्रदत्त करता है कि

इस कार्य के लिये न्यायालय कल्याण कार्यों में विशेषज्ञों की सहायता भी लें। किन्तु अनुभव यह बताता है कि इस संरक्षक प्रक्रिया का हिमाचल प्रदेश के अतिरिक्त दूसरे स्थान पर उपयोग नहीं किया गया है[1]। इसी संदर्भ में पारिवारिक न्यायालय अधिनियम के अधिनियमन पर ध्यान देने योग्य है, जिसमें यह प्रदत्त है कि न्यायालयों को विभिन्न पद्धति और भिन्न वातावरण में कार्य करना चाहिये। विवादों के समाधान के लिये समझौता परक मार्ग प्रभावपूर्ण ढंग से अपनाना चाहिये। समझौते की अवस्था में न्यायालय में वातावरण एकदम अनौपचारिक होना चाहिये और प्रक्रिया कठोर नियमों से शासित नहीं होगी। इसी मार्ग का अनुसरण ग्राम न्यायालय को भी करना होगा क्योंकि ग्रामीण समाज का भी परिरक्षण किसी अन्य विध्वंसक मार्ग को अपनाकर नहीं किया जाने वाला है। जब हम लोग जयपुर गये तो हमने वहीं के, प्रथम परिवार न्यायालय और जो कदाचित देश का प्रथम परिवार न्यायालय भी है, अध्यक्ष न्यायाधीश से सविस्तार चर्चायें की। उनका अनुभव था कि अनेक विवादों को मध्यस्थता द्वारा ही निबटाने में वह सफल थे और जिन विवादों को निपटाने में सफल नहीं रहे उन्हें विरोध के स्तर पर कल्याण कार्यों में विशेषज्ञों और समाज के समाज सेवियों के साथ बैठकर निबटाया। जहां कहीं भी हम गये हमें अनुभव हुआ कि लोक अदालत की प्रथा प्रचलित हो चुकी है। प्रारम्भ में हमारे द्वारा प्रस्तावित पीठ और लोक अदालत में भेद को लेकर भाग लेने वालों के मन में कुछ भ्रम था। हमें समझना पड़ा कि लोक अदालतें केवल मध्यस्थता के स्तर तक कार्य करती हैं, जबकि हमारे द्वारा प्रस्तावित पीठ अन्य न्यायालयों की भांति विरोध के स्तर पर कार्य करेगी। हम ऐसा अनुभव करते हैं कि लोग सामान्यतया विवादों की प्रारम्भिक अवस्था में समझौता का मार्ग अपनाये जाने के पक्ष में रहते हैं। अतः हम इस बात को जोरदार संस्तुति करते हैं कि ग्राम न्यायालय का मार्ग प्रारम्भिक अवस्था में मध्यस्थता का होना चाहिये सिवाय नियमित अपराधिक कार्यवाहियों के जिनमें शासनीय अपराधों को छोड़कर विचारण होना ही है। अपराध समाज के प्रति किया गया आघात है। अतः उसके समझौता होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

ग्राम न्यायालयों की सफलता ग्राम न्यायालयों के सदस्यों द्वारा विवादों के हल के लिये अपनाये जाने वाले मार्ग पर निर्भर है। अतः ग्राम न्यायालय के सदस्यों का उचित प्रशिक्षण अत्यावश्यक है। यह प्रशिक्षण वादों की सुनवाई, समझौता करने और विवादों को सुलह द्वारा निपटाने तथा निर्णय पर पहुंचने के संबंध में होनी चाहिये। साधारण न्यायाधीशों को विशेषतः यह पाठ दिया जाना चाहिये कि वे प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों का अनुपालन करें। न्याय, साम्या और सद्विचार ही उनके कार्यों और निर्णयों के मार्ग दर्शक हों। उन्हें यह भी बताया जाये कि जितना भी सम्भव हो पक्षकारों में समझौता के लिये पूरे प्रयास किये जाने चाहिये। विवाद के कारणों को समाप्त कर अच्छे संबंधों के निर्माण के प्रयास होने चाहिये।

प्रयोजनीयता की दृष्टि से शिक्षा की परिभाषा जीवन के लिये तैयारी के रूप में की गयी है न कि रोजी के लिये तैयारी, जबकि प्रशिक्षण को सदैव ही व्यवसायिक उद्देश्यों के लिये प्रशिक्षण समझा जाता रहा है। जनसेवा के विशेष संदर्भ में युवक द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रों में रोजगार हेतु प्रवेश के लिये की जाने वाली सामान्य तैयारी है और जीवन की बाद की अवस्था में व्यक्ति के लिये नियत किये जाने वाले कर्तव्यों की तैयारी के रूप में शिक्षा है[2]। सेवा में नियोजन के पूर्व और बाद में भी योग्यतम व्यक्तियों के लिये प्रशिक्षण को अत्यधिक महत्व माना गया है। 1975 में अखिल भारतीय पंचायत परिषद् के अध्यक्ष ने पंचायत राज संस्थाओं के निर्वाचित प्रतिनिधियों और कार्यकर्ताओं के लिये अन्य विषयों के अतिरिक्त सिद्धांतों और जनतंत्रीय क्रियाविधि में प्रशिक्षण दिये जाने की जोरदार मांग की थी[3]। पंचायती राज न्यायाधीश और साधारण न्यायाधीशों को नियोजन के पूर्व और सेवा के काल के मध्य में प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम से अतिरिक्त व्यय भार नहीं पड़ेगा। देश के अनेक भागों में पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्रों का प्रारम्भ हो गया है। ये केन्द्र न्याय पंचायत के सदस्यों और पंचायत राज्य के अन्य

1. न्यायमूर्ति पी. डी. देसाई—मुख्य न्यायाधीश हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा प्रदत्त विस्तृत सूचना के आधार पर।
2. मू., एस. 1966, पृष्ठ 77।
3. (1982) प्रोफाइल आफ अलवर पंचायत: एन. डेड बाल, पृष्ठ 40।

कर्मचारियों को आत्यकालिक प्रशिक्षण देते हैं[1]। आवश्यकता इस बात की है कि इन प्रशिक्षण केन्द्रों को विस्तृत कर दिया जाये और साधारण न्यायाधीशों के प्रशिक्षण दिये जाने के लिये पर्याप्त सुविधाएं इन्हें प्रदान कर दी जायें।

गतिरोध की समस्या।

5.20 ग्राम न्यायालय में पंचायती राज काडर न्यायाधीशों में से अध्यक्ष न्यायाधीश और दो साधारण न्यायाधीश करेंगे। इस संरचना के फलस्वरूप एक गम्भीर चर्चा इस संबंध में प्रारम्भ हुई कि क्या दो साधारण न्यायाधीश किसी विवाद का निपटारा बहुमत के निर्णय से कर सकते हैं चाहे अध्यक्ष न्यायाधीश का मत विमत में हो। एक विचार था कि साधारण न्यायाधीशों को असेसर की संख्या के उत्पादन के पूर्व दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 द्वारा निर्धारित असेसर की भूमिका समनुदेशित की जानी चाहिये। उनकी भूमिका को पुनः स्मरण करें। तथ्य के प्रश्नों पर असेसरों का मत विचारण न्यायाधीश के लिये बाध्यकारी नहीं था और वह उनके मत की उपेक्षा कर सकता था। जूरी के मामले में तथ्य के प्रश्नों पर उनका एक मत था। बहुमत से दिया गया निर्णय विचारण न्यायाधीश को मानना बाध्यकारी था। जूरी और असेसर को विधि के प्रश्नों पर न्यायाधीश का निर्णय मानना बाध्यकारी था। यदि न्यायाधीश जूरी का एक मत अथवा बहुमत का निर्णय अनौचित्यपूर्ण या युक्तियुक्त नहीं समझता था तो वह अपने कारण देकर मुकदमों को उच्च न्यायालय को उपयुक्त आज्ञा के लिये भेज देता था। न्यायाधीश को यह छूट नहीं कि वह जूरी द्वारा बहुमत का एकमत से किये निर्णय की उपेक्षा या अस्वीकार कर दें। असेसरों की संख्या तो केवल मखौल बन कर रह गयी थी। इसे किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई। इसमें केवल यह भ्रम उत्पन्न किया कि न्याय सहभागिता पर आधारित था। यह केवल बिना किसी तत्व की छाया था और ऐसा तत्व था कि जिसकी कोई छाया न थी। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखकर क्या असेसरों के अनुभव को दुहराना बुद्धिमानी होगी? इसका उत्तर नकारात्मक है। जूरी प्रणाली को भी फिर से प्रचलन में लाने से स्थिति में सुधार नहीं होगा। सहभागिता पूर्ण न्याय को प्रभावप्रद और अर्थप्रद बनाने के लिये प्रारम्भ कहीं दूसरी तरफ से करना होगा। इस दिशा में ग्राम न्यायालयों की स्थापना सही दिशा होगी। इस तथ्य को ध्यान में रखकर कि ग्राम न्यायालयों के समक्ष उपस्थित होने वाले विवाद सरल, सुगम और विधि के प्रश्नों से रहित होंगे, यह अच्छा होगा कि समाज का विश्वास न्यायिक प्रशासन में साधारणजन की सहभागिता में उत्पन्न किया जाये। केवल एक सुरक्षात्मक उपाय किया जाना चाहिये। विधि के मामलों पर अध्यक्ष न्यायाधीश साधारण न्यायाधीश को निर्देश देगा। विवादों के निर्णय और न्यायनिर्णयन के मामले में एक मत से निर्णय न होते हुए भी दो साधारण न्यायाधीशों का निर्णय न्यायालय का निर्णय माना जायेगा। यदि कोई अन्य पग उठाया जाता है तो साधारण न्यायाधीशों की स्थिति को फिर से निष्प्रभावी कर देगा और सहभागी न्याय के प्रशासकों को बहुत हानि होगी। इस दृष्टि से दूसरा अतिवादी दृष्टिकोण कि दो साधारण न्यायाधीश ही अकेले विवादों पर निर्णय देंगे और अध्यक्ष न्यायाधीश केवल मार्गदर्शन करेगा, इस आधार पर त्याज्य है यह ग्राम न्यायालय की सम्पूर्ण विचारधारा के विरुद्ध होगा। जैसे ही सुनवाई समाप्त हो तीनों न्यायाधीश एक साथ बैठकर एकमत से निर्णय देने का प्रयास करें। अध्यक्ष न्यायाधीश विधि और निर्णय की प्रक्रिया में अपना मार्गदर्शन दें। यह नया प्रयोग विधि प्रशिक्षित विचारों और सामान्य बुद्धि वाले, सांसारिक बातों, स्थानीय परिस्थितियों, परम्पराओं, विश्वासों के बीच पारस्परिक क्रिया पर आधारित होगा, जिससे स्थानीय विवादों को निबटाया जा सकेगा। ऐसा कुछ नहीं किया जाना चाहिये। जिससे तीनों न्यायाधीशों के मध्य समानतायें अन्तर आवे। साधारण न्यायाधीशों को किसी भी प्रकार कम महत्व न दिया जावे। लोगों में विश्वास उत्पन्न किया जाये, जिससे वे स्वीकार करें। अतः इस बात का ध्यान करते हुए कि पंचायतीराज न्यायाधीश जब ग्राम न्यायालयों की अध्यक्षता करें तब उनका यह प्राथमिक कर्तव्य होगा कि कार्यवाहियों के मध्य उत्पन्न होने वाले विधि के प्रश्नों पर जिन्हें विवादों के निबटाने में आवश्यक समझा जाये प्रभावपूर्ण मार्ग दर्शन दो साधारण न्यायाधीशों को प्रदान करें। किन्तु निर्णय के प्रश्न पर एकमत न होने पर बहुमत के निर्णय को न्यायालय का निर्णय माना जायेगा।

1. पृष्ठ 40।

अध्याय 6

अधिकारिता शक्ति आदि के प्रश्नों का आलोचनात्मक परीक्षण

क्षेत्रीय अधिकारिता ।

6.1 आयोगों और समितियों ने समय-समय पर निरन्तर इस बात की संस्तुति की है कि सहभागिता के आधार पर न्याय देने वाले पीठ की रचना की जाये अथवा उसे फिर से शक्तिशाली बनाया जाये—इस पीठ को सामान्यतया ग्राम न्याय पंचायत कहा जाता है। न्याय पंचायतों के लिये गंभीरता पूर्वक विचार करते समय आयोग की प्रत्येक रिपोर्ट में तथा एक समिति ने भी न्याय पंचायत संस्था को सारवान अधिकारिता देने में हिचक दिखायी है[1]। विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट के अध्याय 43 में न्याय पंचायतों को विभिन्न अधिनियमों द्वारा प्रदत्त अधिकारिता की चर्चा बहुत विस्तार से की गई है। न्याय पंचायत की सिविल अधिकारिता 25 रुपये से 50 रुपये तक की धन संबंधी सीमाओं तक ही थी। विधि आयोग ने अधिनियमों को पुनरीक्षित करने के पश्चात् धन संबंधी अधिकारिता 200 रुपये से 250 रुपये तक की अधिकतम सीमा तक करने की संस्तुति की थी। इसने आगे यह भी कहा था कि यदि कोई न्याय पंचायत कार्य कुशल सिद्ध होती है तो उसे 300 रुपये तक की अधिकारिता बढ़ाकर दी जा सकती है, किन्तु उच्च न्यायालय का अनुमोदन अवश्य होना चाहिये, अपराधिक मामलों के संबंध में, प्रथम विधि आयोग ने सारवान सजा या जुर्माना न देने पर सजा न्यायालयों द्वारा देने की संस्तुति नहीं की थी। इस संबंध में 50 रुपये तक की सजा दंड के रूप में देने की अधिकारिता की सिफारिश की थी। प्रस्तावित ग्राम न्यायालय को सिविल और अपराधिक अधिकारिता प्रदत्त करने के संबंध में अलग-अलग मत प्रकट किये गये। असीमित धन संबंधी अधिकारिता दिये जाने के संबंध में स्पष्ट हिचक थी। अपराधिक मामलों में भी सारवान सजा देने की अधिकारिता प्रदत्त करने के संबंध में हिचक थी। इस संबंध में पूरी दृष्टि भूतकाल के अनुभवों के कारण धारणाग्रस्त सी थी। चर्चा में भाग लेने वालों द्वारा इस प्रक्रिया के मध्य जिस बात को नजरअन्दाज कर दिया जा रहा है कि ग्राम न्यायालय की पीठ का स्वरूप पारम्परिक पंचायतों से एकदम अलग है, क्योंकि इसमें है अध्यक्ष न्यायाधीश के रूप में विधि प्रशिक्षित व्यक्ति जो जिला न्यायालय के अधीनस्थ किसी भी न्यायालय में कार्य करने में सक्षम होता है। यह नवीन गुण आयोग को अधिक और विस्तृत अधिकारिता देने तथा भूतकाल के अनुभवों को विस्तृत कर देने की संस्तुति करने को प्रेरित कर रहा है। ग्राम न्यायालय की स्थानीय भौगोलिक अधिकारिता तालुक/तहसील तक सीमित होनी चाहिये। ग्राम न्यायालय तालुक या तहसील के स्तर के कार्यालय के साथ होगा और इस ग्राम न्यायालय की अधिकारिता उस तहसील या तालुक के सभी ग्रामों तक होगी। यदि ग्राम न्यायालय के समक्ष पर्याप्त संख्या में विवाद नहीं आते हैं और ये पूर्ण समय तक व्यस्त रखने में अपर्याप्त हैं, तब राज्य सरकार उच्च न्यायालय के अनुमोदन से ग्राम न्यायालय की अधिकारिता एक तहसील से अधिक विस्तृत कर सकती है। तालुक या तहसील के मुख्यालय से कार्य करने वाला ग्राम न्यायालय तालुक या तहसील के अन्तर्गत आने वाले ग्रामों के अन्दर उत्पन्न होने वाले विवादों को प्रभावशाली ढंग से और जल्द निपटा सकते हैं। प्रत्येक तालुक या तहसील के अन्तर्गत एक ग्राम न्यायालय की स्थापना के पीछे आयोग ने अपनी दृष्टि में यह बात रखी है कि सामान्यतया तहसील या तालुक के अन्तर्गत ग्रामों की समान परम्परायें, रीति रिवाज, पड़ौस की जानकारियां और समान भाषा होगी। तहसील या तालुक के स्तर पर ग्राम न्यायालय की स्थापना से न्यायालयों की संख्या में बढ़ौतरी भी नहीं होगी। क्योंकि इस समय

1. भारत का विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट अध्याय 43 अनुच्छेद 45—250 रुपये तक सिविल अधिकारिता—दांडिक अधिकारिता 80/- अर्थ दंड देने तक स्टडी टीम ' ग्राम न्याय पंचायत अध्याय 1 अनुच्छेद 6.2 धन संबंधी सीमा 250/- तक और अपराधिक मामलों में अर्थ दंड 50/- तक।

भी अधिकांश निचले स्तर के न्यायालयों जैसे मुन्सिफ या सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ) तालुक या तहसील स्तर पर स्थापित हैं। रचना इस प्रकार है कि ग्रामों के समूह से तहसील या तालुक का निर्माण होता है।

कई तालुक तहसील मिलकर जिला बनता है और राज्य का विभाजन जिलों में होता है। न्यायालयों की पिरामीडिय रचना में आधार तल पर मुन्सिफ न्यायालय/सिविल न्यायालय (कनिष्ठ) न्यायालय होता है, बीच में जिला न्यायालय और सबसे ऊपर उच्च न्यायालय। इस समय प्रत्येक तालुक या तहसील स्तर पर मुन्सिफ मजिस्ट्रेट या सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) और न्यायिक मजिस्ट्रेट के न्यायालय हैं। यह हो सकता है कि वर्तमान कुछ न्यायालयों को काम की कमी हो जाये और लाभ और लागत का विचार करते समय यह एक सुसंगत मुद्दा हो। तहसील या तालुक स्तर के ग्राम न्यायालय से, आयोग के विचारों के अनुसार, यथासंभव विवादों के मूल स्थान पर निपटाये जाने की आशा की जाती है। कम से कम ऐसे स्थानों पर जैसे खेत के रास्तों, पानी के रास्तों, वायु और प्रकाश के रास्तों आदि विवादों के स्रोत और उत्पत्ति स्थान पर ग्राम न्यायालय को अवश्य जाना चाहिये। आयोग का यह विचार है कि न्यायालय ग्रामीणों के द्वार तक पहुंचना चाहिये—यह एक ऐसा आदर्श है जिसकी परिकल्पना प्रथम विधि आयोग ने की थी। इसने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है कि "ग्रामीणों के द्वार तक न्याय को पहुंचाने की समस्या पर हल पंचायत न्यायालय ही कर सकती है[1]। प्रस्तुत प्रयास उसी आदर्श को कार्य रूप/यथार्थ रूप देने का प्रयत्न है। अतः आयोग का मत है कि ग्राम न्यायालय तालुक या तहसील के मुख्यालय पर होना चाहिये जिसे इसके अन्तर्गत आने वाली सभी ग्रामों पर न्यायाधिकारिता प्राप्त होनी चाहिये। सहभागिता पीठ की स्थापना का विचार ग्राम समाज के लाभ को भी ध्यान में रखकर किया जा रहा है। जिसकी सिविल अधिकारिता में ग्राम स्तर पर होने वाले विभिन्न प्रकार के विवाद हैं। इस प्रयोग के लाभ ग्रामीण समाज को प्राप्त होना चाहिए। अतः यह प्रस्तावित किया गया कि ग्राम न्यायालय की अधिकारिता तालुक या तहसील के अंतर्गत आने वाले ग्रामों तक हो होना चाहिए। इस विचार में ग्राम के परिभाषा की भी आवश्यकता है। सहभागिता पर आधारित न्याय के पक्षधर इस प्रयोग को प्रथमतः ग्रामों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते हैं। उनका विचार था कि आयोग के विवादों की प्रकृति को सुनिश्चित और उनकी पहचान स्पष्ट करनी चाहिए चाहे वे ग्रामीण, नगरीय अथवा महानगरीय क्षेत्रों में उत्पन्न हुए हों। सहभागी पीठ को ऐसे सभी विवादों का समाधान प्रदान करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह सुन्दर विचार है, किन्तु जब वर्तमान प्रणाली से निश्चित भिन्न मार्ग बनाया जा रहा हो, तो हमें धीरे-धीरे और सावधानी पूर्वक चलना चाहिए। यद्यपि यह दोनों ही निःसंदेह नकारात्मक हैं। इस प्रयोग की प्रथम बार में ही सुनिश्चित और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए नये पीठ को ग्रामीण समाज में कार्य करना चाहिए। यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय आबादी का 80 प्रतिशत ग्रामों में ही निवारित हैं। अतः ग्राम शब्द की सुनिश्चित परिभाषा करना आवश्यक है। सबसे छोटी परिभाषा ग्राम प्रशासन की वह इकाई है, जिसके लिए किसी म्यूनिसीपैलिटी की स्थापना नहीं की गयी है, को उपयुक्त समझा जाना चाहिए। इस परिभाषा को ही उस क्षेत्र को जो ग्राम न्यायालय को प्रस्तावित क्षेत्रीय अधिकारिता के अंतर्गत लाया जाना है, पर्याप्त और परिशुद्ध समझा जाना चाहिए।

सिविल न्यायाधिकारिता

6.2 न्यायालय की अधिकारिता से भौगोलिक अधिकारिता, सिविल अधिकारिता और अपराधिक अधिकारिता समझा जाता है। सिविल अधिकारिता के प्रश्न को हल करना सरल नहीं है। इस संबंध में भूतकाल के अनुभव वर्तमान विचारों पर इस सीमा तक प्रभाव डाल रहे हैं कि भविष्य की दृष्टि की सुस्पष्ट नहीं हो रही है। जैसा कि पहले कहा गया है, 1958 तक न्याय पंचायत की धन संबंधी अधिकारिता सिविल मामलों में 25 रु० से 50 रु० और किन्हीं विरले मामलों में 200 रु० तक के बीच घूमती रही है। यदि बहुत कुशल सिद्ध हुई तो पंचायत को धन संबंधी अधिकारिता 500 रु. तक की दी गई। रुपये की क्रय शक्ति में अवमूल्यन, वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि और स्थावर

1. भारत का विधि आयोग 14वीं रिपोर्ट भाग 2, अध्याय 43, अनुच्छेद-21, पृष्ठ 909।

संपत्ति के दावों में वृद्धि के साथ अब यह कोई विचार भी नहीं कर सकता कि सिविल विवादों में अधिकारिता 250 रुपये तक के मूल्य तक ही दी जाये। यह तो बहुचर्चित नयी पीठ का मखौल होगा। अतः भूतकाल के विचार को त्यागना पड़ेगा, क्योंकि वे पूर्णतः असंगत हो गये हैं। अब इस प्रश्न पर विचार आवश्यक है कि धन संबंधी अधिकारिता का सीमांकन करना क्या नये पीठ के लिये संगत विचार होगा। अनेक राज्यों ने मुन्सिफ/सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) की अधिकारिता 20,000 रुपये तक बढ़ा दी है। इतनी ही विस्तृत अधिकारिता ग्राम न्यायालय को भी प्रदान की जा सकती है, क्योंकि इस पर पीठासीन व्यक्तियों में वह व्यक्ति भी होगा जिसका स्तर मुंसिफ/सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) के स्तर का होगा। विवाद की वस्तु के मूल्य का व्यक्ति की न्यायिक दृष्टि से विचार करने की क्षमता से कोई संबंध नहीं होता है। रुपये में मूल्य श्रम उत्पन्न करने वाला होता है। वस्तु का वास्तविक मूल्य तो दावेदार द्वारा समझा जाने वाला मूल्य ही होता है। एक निर्धन व्यक्ति किसी साधारण वस्तु का अधिक मूल्य समझता है और उसके लिये लड़ता है और धनी व्यक्ति की दृष्टि में उसका तनिक ही मूल्य हो सकता है। अतः किसी व्यक्ति की न्यायिक क्षमता का संबंध रुपये के मूल्य से होता है, यह परस्पर विरोधी बात है। आयोग विवादित वस्तु के धन संबंधी मूल्य और न्यायाधीश को इस वस्तु के संबंध में न्याय करने की क्षमता का कोई संबंध निर्धारित करने में अक्षम है। एक साधारण मध्यस्थ जिसे पक्षकारों द्वारा चुना गया है, किसी भी मूल्य सीमा की वस्तु के संबंध में न्याय कर सकता है। अतः नये पीठ के स्वरूप निर्धारण के समय विवादित वस्तु के मूल्य और व्यक्ति की उस वस्तु के साथ न्याय करने की क्षमता के मध्य सूक्ष्म और अवैज्ञानिक संबंध को तोड़ना उचित होगा। वास्तविक संबंध विवाद की प्रकृति और उस पर विचार कर समाधान देने वाले व्यक्ति की क्षमता में बैठाया जाना चाहिये। आधार पत्र के अनुच्छेद 2.7 में आयोग ने ग्रामीण क्षेत्रों से उत्पन्न होने वाले विवादों की प्रकृति का विस्तृत वर्गीकरण किया है। ग्रामों में उत्पन्न होने वाले विवादों का वर्गीकरण और उनकी पहचान ताल्लुक या तहसील न्यायालयों में, जिन्हें मुंसिफ/सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) का न्यायालय कहा जाता है, दायर किये जाने वाले मुकदमों के मामूली तौर पर परीक्षण करने के उपरान्त किया गया है। उल्लेख किये गये प्रत्येक विवाद के शीर्षक पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होगा कि विवाद की धन संबंधी अधिकारिता किसी प्रकार सुसंगत नहीं है। सीमा विवाद अथवा छोटे से जलाशय कब्जे का कैसे मूल्यांकन करेंगे? माल के कागजात में प्रविष्टियों के विवादों का मूल्यांकन कैसे होगा? अधिकारिता के सम्बंध में विवादों की प्रकृति पर जिससे ग्राम न्यायालयों को निपटाना है, दृष्टि रखकर आयोग ने अनेक स्त्रोतों से मत आमंत्रित किये कि ग्राम न्यायालयों को सिविल अधिकारिता कितनी प्रदान की जानी चाहिये?

जैसा सभी विषयों पर, वैसे ही इस विषय पर भी मत अति रूढ़िवादी से लेकर अत्यन्त क्रांतिकारी विचार प्राप्त हुए। यथा स्थिति वादियों का कहना था कि ग्राम न्यायालयों को 5000 रुपये तक की धन संबंधी अधिकारिता समाप्त की जानी चाहिये। कुछ लोगों का मध्य मार्गी विचार था। उनके अनुसार धन संबंधी अधिकारिता उतनी ही प्रदान की जानी चाहिये जितनी राज्य न्यायालयों में मुंसिफ या सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ श्रेणी) की हो। इन दो अतिवादी विचारों के बीच आयोग को किसी व्यवहारिक मध्यमान को सिद्धान्तों के भी अनुकूल हों, को खोजना होगा। सभी प्रकार के विचारों, आशंकाओं और हिचक को ध्यानपूर्वक दृष्टि में रखा गया है। आयोग इस तर्क से आश्वस्त नहीं है कि विवाद की विषय वस्तु के बाजार मूल्य से विवाद को निपटाने की क्षमता का कोई संबंध है। इस विचार की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। आयोग का मत है कि अधिकारिता विवाद की विषय वस्तु से संबंधित होनी चाहिये न कि इसके धन के मूल्य से। अतः ग्राम न्यायालयों के धन संबंधी अधिकारिता के बारे में कोई विचार मान्य नहीं है।

आधार पत्र के अनुच्छेद 2.7 में दिये गये विवादों के वर्गीकरण को साधारणतया सभी भाग लेने वालों द्वारा समर्थन प्राप्त है, जिसे ग्राम न्यायालय के अधिक्षेत्र के भीतर लाया जाना है। कुछ विधि विशेषज्ञों ने यह शंका प्रकट की है, कि भूमि और भू-राजस्व राज्य सूची के विषय है। अतः संसद् को विधायी क्षमता इस प्रकार के अधिनियम के लिये नहीं प्राप्त होगा। इस पर चर्चा बाद में की जावेगी।

ग्राम न्यायालय के पक्षधरों की इच्छा थी कि अधिकारिता का विस्तार निम्नलिखित शीर्षकों तक होना चाहिये:—

(1) मजदूरी की संदाय न किया जाना और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम का अतिक्रमण।
(2) धन संबंधी मुकदमों चाहे वे लेन-देन संबंधी हों या ऋण संबंधी।
(3) भूमि को जोतने को लेकर भागीदारों में उत्पन्न विवाद।
(4) स्थानीय निवासियों द्वारा वनोपज के उपयोग को लेकर विवाद।
(5) पुलिस, माल, वन, स्वास्थ्य और यातायात विभाग के स्थानीय अधिकारियों के विरुद्ध परेशान किये जाने की शिकायतें या परिवाद।
(6) वंचित श्रम पद्धति "उत्सादन" अधिनियम, 1976 और सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 से उत्पन्न विवाद।

ऊपर दिये गये विवादों के शीर्षकों पर दृष्टि डालने से प्रतीत होगा कि इन्हें ग्राम न्यायालयों को सुविधापूर्वक दिया जा सकता है। अतः यह संस्तुति की जाती कि अनुच्छेद 2.7 में दिये विवादों की श्रेणियों के अतिरिक्त उपर्युक्त पांच शीर्षकों के अन्तर्गत विवादों को भी ग्राम न्यायालयों की अधिकारिता के अधीन कर दिया जाय। आयोग निम्नलिखित विषय वस्तु के विवादों की सिविल अधिकारिता भी ग्राम न्यायालयों को दिये जाने के पक्ष में है:—

1. **सिविल विवाद** :— कृषि संबंधी सुधारों तथा अन्य संबंधी अधिनियमों के क्रियान्वयन के फलस्वरूप उत्पन्न विवाद.—1. अभिधृत संरक्षित और छिपाई गई तथा प्रतिवाद की गई 2. सीमा संबंधी विवाद और अतिक्रमण 3. क्रय करने का अधिकार 4. सयान चारागाह का उपयोग 5. माल के कागजात में प्रविष्टियां 6. सिचाई की नालियों से पानी लेने की व्यवस्था और समय 7. कर निर्धारण संबंधी विवाद।
2. संपत्ति संबंधी विवाद :— 1. ग्राम और फार्मधर 2. सहन 3. सुखाचार : खेतों : खलिहानों और घर जाने के लिये व्यक्तियों, बैलगाड़ियों और जानवरों को मार्ग का अधिकार 4. सिचाई की नाली 5. कुंआ और ट्यूबवैल से पानी लेने का अधिकार।
3. **पारिवारिक विवाद** :— 1. विवाह 2. विच्छेद 3. सन्तानों का अभिरक्षण 4. सम्पत्ति का उत्तराधिकार और उसमें अंश 5. भरण पोषण।
4. **अन्य विवाद**:— 1. मजदूरी का संदाय न किया जाना और न्यूनतम मजदूरी अधिनियम का अतिक्रमण।
   2. धन संबंधी मुकदमें—चाहे वे लेन-देन संबंधी हों या ऋण संबंधी।
   3. भूमि को जोतने को लेकर भागीदारों में उत्पन्न विवाद।
   4. स्थानीय निवासियों द्वारा वनोपज को लेकर उत्पन्न विवाद।
   5. पुलिस, माल, वन, स्वास्थ्य और यातायात विभाग के स्थानीय अधिकारियों के विरुद्ध परेशान किये जाने की शिकायतें या परिवाद।
   6. वंचित श्रम पद्धति(उत्सादन) अधिनियम, 1976 और सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम,1955 से उत्पन्न विवाद।

दांडिक अधिकारिता।

6.3 ग्राम न्यायालयों को दांडिक अधिकारिता प्रदान किये जाने के सुझाव ने ही कुछ लोगों में गहरी प्रतिक्रिया और हलचल उत्पन्न कर दिया। पुनरुक्ति न हो अतः यह कहा जा सकता है कि यह भूत काल का कटु अनुभव है। जब न्याय पंचायतों में केवल ग्राम समाज के निर्वाचित प्रतिनिधि ही हों और वह भी साधारण न्यायाधीश हों तो ऐसे अप्रशिक्षित व्यक्तियों को दांडिक अधिकारिता प्रदान किया जाना गंभीर प्रश्न है। कार्यशालाओं में तथा आयोग को दिये गये लिखित स्मरणपत्रों में ग्राम न्यायालय को दांडिक अधिकारिता दिये जाने के विरुद्ध उग्र विचार प्रकट किये गये थे। कुछ ऐसे लोग भी थे, जिनका कहना था कि अधिकारिता को ऐसी सीमा तक रखा जाये जिनमें 200 रुपये तक भी सजा अर्थदंड के रूप में दी जा सकती है। न्याय पंचायत पर अध्ययन समिति[1] के अनुमोदन को स्वीकार किये जाने के पक्ष में ये लोग थे। कुछ भाग लेने वालों

1. स्टडी टीम आन न्याय पंचायत की रिपोर्ट अध्याय 9 अनुच्छेद 13, पृष्ठ 80।

ने अपना विचार दिया था कि ग्राम न्यायालयों को ऐसे अपराधों को सुनवाई का अधिकार दिया जाना चाहिये जिन अपराधों के लिये अभियुक्त को 7 वर्ष तक की सजा दी जा सके।

संविधान का अनुच्छेद 21 प्रदत्त करता है "किसी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतन्त्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जायेगा अन्यथा नहीं।" अनुच्छेद 22 प्रदत्त करता है कि "प्रत्येक व्यक्ति को जिसे गिरफ्तार किया गया है और अभिरक्षा में विरुद्ध रखा गया है, गिरफ्तारी के स्थान से मजिस्ट्रेट न्यायालय तक यात्रा के लिये आवश्यक समय छोड़कर ऐसी गिरफ्तारी से चौबीस घंटे की अवधि में निकटतम मजिस्ट्रेट के पक्ष पेश किया जायेगा"।

हमारा संविधान इस बात का भी गारन्टी करता है कि गिरफ्तार और निरुद्ध व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार विधि व्यवसायी से परामर्श और प्रतिरक्षा प्राप्त करे।

अपराधिक दोष सिद्ध में व्यक्ति स्वतंत्रता से वंचित किया जा सकता है और जैसा अनुच्छेद 21 में प्रदत्त है "ऐसी कोई भी प्रक्रिया जिससे व्यक्ति को उसकी स्वतंत्रता से वंचित किया जा सके उसे वर्तमान निर्णयों के रूख के अनुसार होना चाहिये" जिसका प्रारम्भ मेनका गांधी वि० भारत का संघ[1] और ए. के. राय वि. भारत का संघ[2] से होता है। भूतकाल में न्याय पंचायतों को न्यूनतम दांडिक अधिकारिता प्रदान की गई थी, जिसके अधीन वह अधिकतम 50 रुपये तक का अर्थदंड दे सकती थी। इससे इस आयोग को इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार और परिणामों का परीक्षण करने से रोका नहीं जा सकता है।

किसी अपराध के कारण होने वाली दोषसिद्धि से अपराधी को इसका कलंक लगता है। चाहे वह सजा भुगत रहा हो अथवा समाज को उसका ऋण अदा कर दे फिर भी कलंक धुलता नहीं है वरन उसका और उसके परिवार का बहुत दिनों तक पीछा करता है। अतः इस विचार को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ कि विधिवत: प्रशिक्षित अनुभवी व्यक्ति ही मुकदमा की सुनवाई करने में सक्षम होगा और वह ही दोषसिद्धि लिखने और सजा देने में। यह बहुत ही गंभीर मामला था जिसे साधारण व्यक्ति को नहीं सौंपा जा सकता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह गंभीर विचार का मामला है। वर्तमान स्थिति क्या है ? प्रथम श्रेणी का मुंसिफ मजिस्ट्रेट इस समय जैसा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में प्रदत्त है उसके अनुसार उसके विचारणीय मुकदमों को विचारण कर दंड या 5,000 रु० से अधिक अर्थ दंड या दोनों से अधिक की सजा नहीं दे सकता है। (देखें धारा 29(2) दंड प्रक्रिया संहिता)। अब यदि मुंसिफ मजिस्ट्रेट अकेले ऐसे मुकदमों की सुनवाई कर सकता है। जिसमें 3 वर्ष तक का मुख्य दंडादेश दिया जा सकता है तो आयोग को इस अधिकारिता को सीमित करने का औचित्य दिखाई नहीं पड़ता है वह भी केवल इसलिए कि अध्यक्ष पंचायती राज में मजिस्ट्रेट यद्यपि वह सबके समान है, की सहायता को साधारण न्यायाधीश करेंगे और तीनों मिलकर ग्राम न्यायालय की रचना करेंगे। अतः भूतकाल के दुःखद अनुभव को भूलकर और अनुच्छेद 21 में दिए गए आदेश को ध्यान में रखकर और यह भी ध्यान में रखकर कि पंचायत राज न्यायाधीश ही जो स्वयं मुंसिफ मजिस्ट्रेट के स्तर का होगा ग्राम न्यायालय की अन्य दो न्यायाधीशों के साथ रचना करेगा। आयोग का यह निश्चित विचार है कि ग्राम न्यायालय को उन सभी अपराधों की विचारण करने की अधिकारिता प्राप्त होनी चाहिए जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट को प्राप्त है।

ग्राम न्यायालयों की दांडिक अधिकारिता को विस्तृत करने में क्या आयोग संकट का मार्ग अपना रहा है ? क्या इसका दुरुपयोग किया जाएगा ? क्या ग्रामीण समाज को इस तरह अन्याय की जोखिम उठाने को बाध्य किया जा रहा है ? इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं। विधि से प्रशिक्षित अध्यक्षता करने वाला अधिकारी उसके साथ न्यायालय की संरचना करने वाले साधारण न्यायाधीशों का प्रभावपूर्ण ढंग से मार्गदर्शन करेगा। सम्मन और वारंट मामलों की विचारण दंड प्रक्रिया संहिता 1973 में विहित प्रक्रिया के अनुसार ही होगी। इससे उचित प्रक्रिया रहेगी। पंचायती राज न्यायाधीशों को दंडिका कानून का आधार भूत

[1] ए. आई. आर. 1978 सुप्रीम कोर्ट 597।
[2] ए. आई. आर. 1982 सु. को. 710।

ज्ञान उसी सीमा तक रहती है, जिस सीमा तक मुंसिफ मजिस्ट्रेट को इस समय रहता है। उसके रहने से आपराधिक विचारण में निर्दोषता की उपधारणा सुबूत का भार और संदेह का लाभ आदि का मूलभूत सिद्धांत अवश्य रहेंगे। दो साधारण न्यायाधीश साक्षियों और परिवादियों के आचरण, सच्चाई और दृढ़ धार्मिता के बारे में अध्यक्ष न्यायाधीश की दृष्टि को और विस्तृत करेगा। इस प्रकार एक ओर तकनीकी व्यक्ति और दूसरी ओर ग्रामीण जीवन के अनुभव प्राप्त व्यक्तियों के विचारों का परस्पर आदान होगा जिससे निःसंदेह युक्तियुक्त निर्णय मिलेंगे। अतः पहले की न्याय पंचायतों से इसकी तुलना अनुचित होगी।

अपराधिक मामलों में विचारण में विधि का दूसरा स्थान होता है। आचरण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सामान्य बुद्धि का एक व्यक्ति निश्चित परिस्थितियों में कैसे व्यवहार करेगा ? क्या साक्षी का कथन सत्य है अथवा वह गोलमाल बातें कर रहा है ? और सजा की मात्रा निश्चित करने में, अपराध को हल्का और बल प्रदान करने वाली परिस्थितियां विशेषज्ञ और साधारण जन की मिली जुली संस्था अधिक सुन्दर ढंग से विचार कर सकती है। अतः समस्या के सभी पहलुओं पर विचार करने पर आयोग का मत है कि ग्राम न्यायालय को सभी अपराधों पर विचारण की अधिकारिता होनी चाहिए जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अधीन प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट को इस समय प्राप्त है। उसे इसी प्रकार दंडित करने का भी अधिकार होना चाहिए जो प्रथम श्रेणी के न्यायिक मजिस्ट्रेट को है।

वैवाहिक अधिकारिता।

6.4 शीर्षक 3 के अनुच्छेद 2.7 के अधीन यह सुझाव दिया गया है कि पारिवारिक विवादों जैसे (1) विवाह (2) विवाह विच्छेद (3) संतानों की अभिरक्षा (4) संपत्ति की वसीयत और उत्तराधिकार (5) भरणपोषण आदि के मामले जो ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं उन्हें भी ग्राम न्यायालय की अधिकारिता के अधीन होना चाहिए।

यह सुझाव दिया गया है कि संसद् ने परिवार न्यायालय अधिनियम, 1984 अधिनियमित किया है और क्रियान्वित भी किया गया है। यह कहा गया अधिनियम के लागू हो जाने से कुछ विशेष प्रकार के मामलों के लिए विशेष पीठ की भी सृष्टि कर दी है, अतः यदि आयोग आधार पत्र के उल्लिखित प्रस्ताव पर बल तो अधिकारिता का विवाद उत्पन्न हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि परिवार न्यायालय अधिनियम, 1984 अधिनियमित हो चुका है और लागू भी है। आयोग की जानकारी में केवल परिवार न्यायालय राजस्थान के जयपुर नगर में गठित है, जिसके न्यायाधीश पुरुष न्यायाधीश हैं। विवाह, विवाद-विच्छेद और बच्चों की अभिरक्षा से संबंधित विवादों पर स्थान विशेष की अपनी परम्परा होती है। नगरीय विशिष्ट जनों के विवाद या विच्छेद संबंधी विवादों के रूप और पिछड़ी जातियों के ग्रामीण, गरीबों, अशिक्षित दम्पत्तियों के विवादों के रूप में बहुत कम समानता होती है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि परिवार न्यायालय अधिनियम, 1984 अधिनियमित हो चुका है और वह लागू भी है, फिर भी आयोग का मत है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न वैवाहिक विवादों के लिए ग्राम न्यायालय को ही अधिकारिता की जानी चाहिए। विवाद, विवाह विच्छेद तथा बच्चों की अभिरक्षा आदि के रूप में आदिवासियों और पिछड़े वर्ग के जातियों में पारस्परिक है। अतः यह परम्परायें इस प्रकार के विवादों के निपटाने में सहायक होंगी। दृष्टान्त के लिए बिहार के अनुसूचित जन जाति मुन्डा से निवेसित एक गांव में जब आयोग गया तब मुन्डा जनजातियों के नेता ने उच्चतम न्यायालय के उस निर्णय की, जो एच० इ० होरो वि० श्रीमती जहानआरा जैय पालसिंह[1] में है आलोचना की क्योंकि उस निर्णय में यह कहा गया कि मुन्डा जाति से संबंध न रखने वाला व्यक्ति यदि मुन्डा जाति के सदस्य से विवाह करता है तो वह मुन्डा जाति का सदस्य हो जाता है। नेता ने इस बात पर दृढ़ता प्रकट की कि अनादिकाल से ही जन्म के द्वारा ही

[1] ए. आई. आर. 1972 सु. को 18401

कोई व्यक्ति मुन्डा जाति का सदस्य हो सकता है । पैसे की कमी के कारण यह जनजाति उच्चतम न्यायालय के समक्ष उपस्थित नहीं हो सकी। ग्राम न्यायालय जिसमें प्रशिक्षित न्यायाधीश और दो साधारण न्यायाधीश होंगे जिसमें महिला साधारण न्यायाधीश को भी सम्मिलित करने में वरीयता दी जाएगी । वैवाहिक विवादों को सुलझाने में अधिक समर्थ होगा ।

यह कहना कि ये विवाद संभवतः अधिक उलझे हुए और व्यक्तिगत विधि के प्रश्न उसमें होंगे जो ग्राम न्यायालय की समझ के बाहर होंगे । पूर्णतः अनुपयुक्त और निराधार हैं । जातीय पंचायत विवाद विच्छेद, पुनर्मिलन, भरण-पोषण और बच्चों के अभिरक्षण के प्रश्नों को बहुत प्रभावशाली ढंग से निपटाती रही है । यहां कहने का यह अर्थ एक क्षण मात्र के लिए भी नहीं है कि समाज को जातीय पंचायतों के पीछे के युग में ढकेल दिया जाना चाहिए लेकिन इससे बात उचित नहीं ठहरती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न वैवाहिक समस्याओं को हल करने के लिए परिवार न्यायालय से ग्राम न्यायालय अधिक सुविधाजनक और उपयुक्त होंगे । अतः अनुच्छेद 6.2 में उल्लिखित वैवाहिक मामलों की अधिकारिता ग्राम न्यायालय को प्रदान की जानी चाहिए ।

ग्राम अधिकारिता ।

6.5 अभी थोड़ी देर पहले एक प्रश्न उठाया गया था कि चूंकि भूमि और भूराजस्व के प्रश्न राज्य सूची में 18वीं प्रविष्टि के अधीन हैं । अतः संसद् को यह क्षमता प्राप्त नहीं है कि वह भाल की अधिकारिता प्रस्तावित ग्राम न्यायालय को प्रदान करने के संबंध में अधिनियम बना सके । संवैधानिक अड़चनें के अतिरिक्त भी कुछ भाग लेने वाले सज्जनों ने यह आशंका प्रकट की है कि ग्राम न्यायालय, कृषि सुधार कानूनों, भूराजस्व कानूनों, सिचाई तथा उसी प्रकार के अन्य कानूनों के जटिल प्रश्नों को निपटाने में सक्षम नहीं है । यह भी कहा गया है कि इस बारे में केन्द्रीय कानून बनाने से राज्यों की शक्तियों का उल्लंघन होगा और केन्द्र राज्य संबंधों में बिगाड़ आएगा। अनेक वक्ताओं द्वारा ग्रामीण जीवन का एक और भद्दा रूप आयोग के ध्यान में लाया गया यह था राजस्व अधिकारियों जिसे अनेक नामों से जैसे पटवारी, लेखपाल, कुलकर्णी, तलाटी आदि नामों से पुकारा जाता है, की भूमिका के बारे में जो, आधार भूत राजस्व अभिलेखों को तैयार करते हैं और जिनके बारे में आरोप है कि उन्होंने सारे कृषि संबंधी सुधारों को जमा बंदी और खसरा गीर्दा बारी अभिलेखों की प्रविष्टियां गोल माल कर पलट दिया है । इस संबंध में अनन्त शिकायतें हैं । यह कहा गया कि ग्राम न्यायालय इन अधिकारियों से निपटने में पूर्ण अक्षम होगा जिससे इनके अत्याचारों के फलस्वरूप स्थिति में सुधार नहीं लाया जा सकता है ।

आयोग इन आशंकाओं से तनिक भी आतंकित नहीं है। समवर्ती सूची की प्रविष्टि 11 "न्यायिक प्रशासन उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय को छोड़ कर सभी न्यायालयों की संरचना और गठन के अधीन अधिनियम इन आशंकाओं का प्रभावपूर्ण उत्तर हैं । आयोग ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले कतिपय सुनिश्चित शीर्षकों के अधीन विवादों को निपटाए जाने के लिए नयी पीठ की प्रस्तावना कर रही है । ग्राम न्यायालय न्यायिक प्रशासन का एक संगठन होगा और उक्त प्रविष्टि का 11क के अन्तर्गत अधिनियम उचित ही होगा । यदि एक बार इस पक्ष के बारे में विचार समाप्त हो गए तो स्थानीय राजस्व अधिकारियों जिनमें वह व्यक्ति भी सम्मिलित है जो राजस्व अभिलेखों में प्रविष्टियां करता है, पर अत्यन्त प्रभावशाली नियंत्रण और उन पर पर्यवेक्षण करने में ग्राम न्यायालय सर्वोत्कृष्ट रूप से समर्थ होगा । इस समय विवादित प्रविष्टियों के बारे में तहसीलदार या ममलातदार के समक्ष प्रश्न उठाया जा सकता है और इन कार्यवाहियों का कोई अन्त नहीं है। जब इसी विवादित प्रविष्टि पर ग्राम न्यायालय के समक्ष प्रश्न उठाया जाता है तो इसका स्थान पर परिणामप्रद रूप से निपटारा संक्षिप्त रूप से ही हो सकता है और न्यायालय के न्यायाधीशों की सहभागिता से जो इन चालबाजियों और दुष्कर्मों से परिचित होते हैं—मामला जल्द हल किया जा सकता है । यहां यह बता दिया जाए कि आधार पत्र में दिए उत्तरों और कार्यशालाओं में भाग लेने वाले व्यक्तियों की इस बारे में सहमति थी कि अनुच्छेद 5.2 में उल्लिखित राजस्व से संबंधित मामलों की अधिकारिता ग्राम न्यायालयों को प्रदान की जाए ।

सुनवाई का स्थान।

6.6 कालातीत परंपरा है कि न्यायालय पूर्व निर्धारित स्थानों पर ही अपना कार्य करता है। यदि किसी को न्याय पाना है तो उसे न्यायपीठ के समक्ष उपस्थित होना होता है और प्रक्रिया संबंधी कानून द्वारा विहित विधि से इसका ध्यान आकर्षित करना होता है, किन्तु यह न्याय के पाने वाले के द्वार तक पहुंचाने के सिद्धांत के विरुद्ध है। पारम्परिक रीति में न्यायाधीश न तो, विवाद के स्थान पर जाता है और न विवाद जहां से उत्पन्न हुआ उस स्थान को ही देखता है। जब भी न्यायालय को यह इच्छा हुई कि परिस्थिति से परिचित हुआ जाये तो सामान्य प्रचलन है कि न्यायालय एक आयुक्त की नियुक्ति कर दे जो न्यायालय का ही एक अधिकारी या व्यवसायरत वकील होता है। यह सामान्यतया तकनीकी दृष्टि से सक्षम व्यक्ति होता है। पक्षकारों को सूचना देने के पश्चात् स्थान पर जाता है और उस स्थान पर मानचित्र व्याख्यात्मक टिप्पणियों के साथ तैयार करता है, किंतु यह पारम्परिक तरीका विवादों को स्थाई बनाने में भी सफल हुआ है। क्योंकि पक्षकारों के बीच विवाद को निपटाने में जैसे ही आयुक्त अपनी रिपोर्ट दाखिल करता है, दोनों पक्षों को रिपोर्ट पर अपनी आपत्तियां दाखिल करने को आमंत्रित किया जाता है, उसमें से किसी न किसी पक्ष को रिपोर्ट, मानचित्र, व्याख्यात्मक टिप्पणी के विरुद्ध आपत्ति होती ही है। आपत्तियों को सुनवाई के पश्चात् अंत में न्यायालय का आदेश होता है। तत्पश्चात् न्यायालय के इस आदेश को चुनौती देने वाले पक्ष की ओर से सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण याचिका उच्च न्यायालय में दी जाती है। कुछ विरले अवसरों पर उच्चतम न्यायालय को अधिकारिता की भी सहायता उसके लिए ली जाती है। इस प्रकार सिविल विवादों की एक अच्छी संख्या इसके कारण बगल में डाल दी जाती है कि न्यायालय को किस प्रकार सही और प्रत्यक्ष जानकारी विवादग्रस्त स्थान का मिलना चाहिये। यदि न्यायाधीश विवाद ग्रस्त स्थान पर स्वयं जाता है और यदि यह वरिष्ठ न्यायालय की जानकारी में आ जाती है तो यह आरोपित होता है कि न्यायाधीश धारणग्रस्त हो गया और निष्पक्ष और धारणा हीं होने के स्थान पर उसकी दृष्टि पक्षपात पूर्ण हो गई थी। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि छोटे-छोटे मामलों में विवादित स्थान पर जाने से ही निपटारा हो जायेगा। ग्रामीण क्षेत्रों से न्यायालय में आने वाले तमाम मुकदमों में घर या खेत की पास तक जाने वाली सड़कों जिसका प्रयोग आदमियों, बैलगाड़ियों या जानवरों के लिये होता था के इर्द-गिर्द है। ये विवाद तकनीकी नियमों में फंसे रह जाते हैं, जिससे जटिल विधि संबंधी सिद्धांतों यहां तक की विदेशी निर्णयों में दिये गये सिद्धांतों तक को उठाया जा सकता है। इस प्रकार के सरल विवाद में चिर भोग सुखाचार, आवश्यकता के सुखाचार, उपधारित, समाप्त अनुदान आदि के तकनीकी नियमों को उठाकर समाधान दुष्कर कर दिया जाता है। यदि अध्यक्ष न्यायधीश इन चीजों में उलझने के बजाय पक्षकारों की उपस्थिति में विवाद के स्थान पर जाता है तो विवाद का समाधान वहीं हो सकता है। यही बात सिचाई की नालियों या पारंपरिक या राज्य द्वारा विहित अन्य बातों के बारे में भी है। यह भी बात वायु और प्रकाश के आने के मार्ग के बारे में भी है। अब यदि पुराने घिसे पिटे न्यायालय तरीके की बजाय स्थानीय व्यक्तियों की उपस्थिति में न्यायालय विवादित स्थान पर ही एकत्रित हो तो सत्य को सामने आने की अधिक संभावना है, क्योंकि किसी भी व्यक्ति को अपने आसपास के लोगों, रिश्ते नाते के लोगों के समक्ष झूठ बोलने में हिचक होती है। तदनुसार ही आधार पत्र में, एक सुझाव विचार के लिये दिया गया था कि क्या न्यायालय को यथा सुविधा और विवाद के समाधान के लिये यदि आवश्यक हो तो विवाद की प्रकृति को ध्यान में रखकर विवादग्रस्त स्थान पर या उसके निकट अपनी बैठक करनी चाहिये। अनेकों केन्द्रों में हुई चर्चाओं में उसके एक गुण ने हमें प्रभावित किया है। प्रत्येक केन्द्र में यदि वर्तमान न्याय प्रणाली से छुटकारा पाने की बात आई तो तीन स्पष्ट दृष्टिकोण चर्चाओं में दिखाई पड़े। पहला जिसे बिना किसी शब्दाडम्बर के कहा जाये तो रूढ़िवादी, पारम्परिक या यथास्थिति वादी दृष्टिकोण था। वर्तमान संदर्भ में उनका सुझाव था कि न्यायालयों का पहले ही अवमूल्यन हो गया है। और यदि यह स्थान या गांव-गांव सचल चिकित्सालय की तरह घूमता रहा तो इसकी जो मान्यता और विश्वसनीयता और भी गिर जायेगी। दूसरा दृष्टिकोण मध्य मार्गी दृष्टिकोण कहा जा सकता है उनका मत था कि न्यायालय को साधारणतया पूर्वनिश्चित स्थान पर बैठना चाहिये। और जहां स्थिति, स्थान या विवाद की विषयवस्तु की प्रकृति में यह आवश्यक है कि न्यायालय उस स्थान पर जाये वहां इसे जाने में हिचकना भी नहीं होनी चाहिये, कि ऐसा पक्षकारों को सूचना देने के

उपरांत और उसकी उपस्थिति में होना चाहिये। तीसरा दृष्टिकोण था जिसे केन्द्र के बायीं ओर का दृष्टिकोण कहना उपयुक्त होगा कि संविधान का न्याय जनता के द्वार तक पहुंचाना चाहिये, इस आदेश को कार्य रूप देने का यही समय है। उसी विचार को और आगे बढ़ाते हुये कहा गया न्याय के उपभोक्ताओं के लाभ के लिये न्याय देने की प्रणाली को जनता के द्वार पर उपलब्ध कराना चाहिये, जैसे वस्तुओं के उपभोग के लिये वस्तु। जिस प्रकार वस्तुओं के खरीदार को वस्तु की खोज में घूमना नहीं पड़ता उसी प्रकार न्याय के उपभोक्ताओं को भी न्याय के लिये घूमना न पड़े। इसकी सेवायें द्वार पर ही उपलब्ध होनी चाहिये। संविधानिक दृष्टि से इस मामले पर दृष्टि डालें तो यह बताया जा चुका है कि अनुच्छेद 39क का आदेश कि "राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि आर्थिक या अन्य किसी निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाय।" अतः यह कहा जाता है कि यदि न्याय जनता के द्वार तक पहुंचाया गया तो इसका परिणाम किसी सीमा तक अनुच्छेद 39क की पृष्ठभूमि में दिये उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होगा। अब यदि नयी पीठ की स्थापना की जाती है तो इसका कार्यालय भी होना चाहिये। इसे ग्राम न्यायालय कार्यालय कहा जाना चाहिये। इसे तहसील या तालुका के मुख्य स्थान पर स्थित होना चाहिये। साधारणतया कार्यालय कर्मचारी, स्टेशनरी, पुस्तकें आदि कार्यालय को दी जानी चाहिये। अध्यक्ष न्यायाधीश को इस कार्यालय पर उपलब्ध होना चाहिये। यह कार्यालय ग्राम न्यायालय का केन्द्र होगा। इसे पूर्ण आत्मनिर्भर होना चाहिये और अपनी आवश्यकता के लिये तालुका या तहसील कार्यालय या अन्य कार्यालय पर आश्रित होना चाहिये। इसे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करने के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था की जानी चाहिये।

यदि किसी व्यक्ति को ग्राम न्यायालय में विहित अधिकारिता वाले शीर्षकों के अधीन कोई विवाद है तो उसे सर्वप्रथम तालुका या तहसील मुख्यालय में स्थित ग्राम न्यायालय में पहुंचना होगा। परिवाद के प्राप्त होने पर इसे विहित ढंग से दर्ज किया जाना चाहिये। अध्यक्ष न्यायाधीश परिवाद को देखने के उपरांत या विवाद पर ध्यान लेने के पश्चात् यह निश्चित करेगा कि क्या न्यायालय को विवाद के स्थान पर एकत्र होना चाहिये? उसके पश्चात् ग्राम न्यायालय का अध्यक्ष न्यायाधीश पक्षकारों की सूचना अपने कर्मचारी द्वारा बिना तनिक भी देर किये भिजवायेगा जिसमें दोनों पक्षों को साक्षियों के साथ निश्चित तिथि और समय पर उपस्थित होने की प्रार्थना की जावेगी। ग्राम न्यायालय के समक्ष आने वाले अधिकांश विवाद विवादित वस्तु या स्थान के निकट या उस ग्राम में जहां विवाद उत्पन्न हुआ वहां अधिक संतोषजनक ढंग से निपटाया जा सकता है। इस कथन में यह कल्पना नहीं की गई है कि प्रत्येक ग्राम को न्यायालय के बैठने के स्थान के लिये कार्यालय के स्थान की व्यवस्था करनी चाहिये। कोई भी सरकारी भवन या पंचायत भवन इस कार्य के लिये मांगा जा सकता है और इसके उपभोग के लिये कोई खर्च भी नहीं देना पड़ेगा। पारिवारिक विवादों के मामलों में भी यदि न्यायालय पति या पत्नी के घर पर बैठती है और यदि दोनों पक्षकार एक ही स्थान के निवासी हैं तो अनुभव यह बताता है कि विवादों का हल सरल, जल्द और संतोषजनक ढंग से होता है। ऐसे मामलों में जिनमें विवाद की वस्तु का उपस्थित होना सुसंगत नहीं है, उनके निपटारे के लिये ग्राम न्यायालय को मुख्यालय पर ही बैठना चाहिये।

कतिपय कानूनों का लागू न किया जाना।

6.7 वर्तमान कार्य प्रणाली में न्यायालयों में मुकदमों के निपटारा न होने का वर्तमान दोष सिविल और अपराधिक मुकदमों को निपटाने के लिये सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 और दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 द्वारा विहित दीर्घ जटिल और असमाप्त रहने वाली प्रक्रिया के कारण कहा गया है। कोई कितना भी प्रयत्न छुटकारा पाने का करे प्रक्रिया संबंधी कानून में दी गई अवस्थाओं से मुक्ति पाना असम्भव होता है। ऐसी कहावत ही बन गई है कि सारवान न्याय पाने के लिये प्रक्रिया संबंधी न्याय पाना आवश्यक है। इस बात का प्रत्यक्ष सुबूत है कि न्यायालय को प्रक्रिया संबंधी विवादों को हल करने में अधिक समय और ऊर्जा नष्ट करनी पड़ती है, बजाय विवाद के सारवान मुद्दों के समाधान प्रदान करने में। उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालयों के असंख्य निर्णय सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के प्रावधानों की व्याख्या के प्रश्नों से संबंधित है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872

और परिसीमा अधिनियम, 1963 को कम हाथ स्थिति को भ्रम पूर्ण और जटिल बनाने में नहीं है। प्रक्रिया संबंधी कानून का नाना बाना ऐसा रहा है कि विवाद के हल के मार्ग में प्रगति अवरुद्ध होती है। कुछ प्रक्रिया संबंधी आदेशों का अपील की जा सकती है। (देखें आज्ञा 43 सिविल प्रक्रिया संहिता)। किंतु जिनमें अपील का प्रावधान नहीं है। वहां सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 का आश्रय लिया जाता है। विवादों के निपटारे में जैसे यह अवधान ही पर्याप्त नहीं होता है, संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन कार्यवाहियां जाती है, जिनसे स्थिति और भी जटिल हो जाती है। ग्राम न्यायालयों के समक्ष आने वाले विवादों की प्रकृति सामान्यतया सरल, सीधी और निपटाने में सुविधाजनक होनी चाहिए, जिससे प्रक्रिया संबंधी जंगल में नहीं फंसाया जाना चाहिए। यदि ग्राम न्यायालयों को सिंचाई की नाली से पानी प्राप्त करने या उसके मार्ग के बारे में कोई विवाद है तो सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विहित प्रक्रिया को प्रत्येक स्तर पर अपनाने के परिणाम भयंकर होंगे। जज भगवान किसी न्यायालय के अधीन नहीं हैं और वे न्यायालय की निषेधाज्ञा का पालन करने वाले हैं। कौरवों भी न्यायालय की आज्ञा के अधीन नहीं है। अब बिना स्वरित सहायता दिए फसल नहीं उगाई जा सकती है। और यह व्यक्तिगत हानि तो है ही राष्ट्रीय हानि भी है। इस प्रकार के विवाद का निर्णय करने के लिए यदि ग्राम न्यायालय सिविल प्रक्रिया संहिता को ताक पर रखकर खेत के पानी के मार्ग के पास एकत्रित होती है तो इस विवाद को अधिक संतोषजनक ढंग से घंटे दो घंटे में निपटाया जा सकता है। यह संतोषजनक परिणाम बिना सिविल प्रक्रिया संहिता की सहायता से किया जा सकता है साक्षियों के बयान, उनसे जिरह अंतर्गत होने पर आपत्तियों, प्रश्नों के रूप, मुख्य प्रश्न साक्ष्य अधिनियम की धारा 91 और 92 इन सभी को इस प्रकार के सरल विवाद को निपटाने में दूर रखना होगा।

भूतकाल में जिन्होंने न्याय पंचायत को बनाये रखने अथवा इसकी अधिकारिता को विस्तृत करने या सहभागिता पर आधारित न्याय के लिए भिन्न पीठ को बनाने के लिए अपने विचार प्रकट किये हैं, उन सबकी यह सहमति रही है कि सिविल प्रक्रिया संहिता में इन्हें दूर रखा जाय। यह संस्तुति की जाती है कि ग्राम न्यायालय के समक्ष आने वाले विवादों के लिए न सिविल प्रक्रिया संहिता और न तो साक्ष्य अधिनियम लागू होना चाहिए।

सिविल कार्यवाहियों से प्रक्रिया।

6.8 इसके लिए सरल प्रक्रिया का निर्धारण करना है। इसकी विभिन्न अवस्थाओं को संक्षेप में दिया जा रहा है। जिसके पास परिवाद है या विवाद उठाना चाहता है जो ग्राम न्यायालय की अधिकारिता के अंतर्गत है उसे ग्राम न्यायालय के मुख्यालय तक जाकर एक सरल रूप पत्र भरना होगा जिसमें परिवाद करने वाले का नाम और पता होगा, प्रतिवादी का नाम, पता तथा विवाद क्या है तथा कैसे प्रारम्भ हुआ यह संक्षेप में देना होगा। यदि पीड़ित व्यक्ति फार्म भर सकता है तो ग्राम न्यायालय का कार्य उसे फार्म देना और यदि वह अशिक्षित है तो फार्म भरने में उसकी सहायता ग्राम न्यायालय के कर्मचारी करेंगे। उसे 24 घंटे के भीतर अध्यक्ष न्यायाधीश के समक्ष रखा जायेगा। परिवाद की नकल और सूचना विरोधी पक्ष को दी जायेगी। यदि विवाद के लिए समय की आवश्यकता नहीं है तो ग्राम न्यायालय को अधिकार होगा कि वह एक पक्षीय अंतिम निषेधात्मक आज्ञा पारित कर दे, जिसका क्रियान्वयन एक सप्ताह के भीतर होना आवश्यक हो किन्तु इसी बीच न्यायालय को विवाद के स्थान पर जाकर दोनों पक्षों की उपस्थिति में यह तय करना चाहिए कि अंतरिम आदेश आगे के लिए भी लागू रहना चाहिए अथवा नहीं। अंतिम सुनवाई के लिए भी, जैसे पहले कहा गया है न्यायालय को विवाद के स्थान पर ही जाना चाहिए। विवाद के स्थान पर एकत्र होकर, पक्षकारों को सूचना दें और तब विवाद की प्रकृति के अनुसार संक्षेप से सबूत लेने और यदि वकील किसी पक्ष के हैं तो संक्षिप्त जिरह की भी आज्ञा दे दें जिसका सारे नोट करें और यदि वकील चाहे तो कुछ भी मिनटों में अपनी बात संक्षेप में कहें। यदि संभव हो तो निर्णय वहीं का वहीं दे देना चाहिए। जो भी कागजात दिया जाये उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए

यदि सरकारी अभिलेखों के जिन्हें ग्राम स्तर पर रखा जाता है, की प्रतिलिपि आवश्यक हो तो ग्राम के लेखपाल को पूर्व सूचना देकर उन कागजात के साथ उपस्थित रहने को कहा जाये और उससे यदि न्यायालय आवश्यकता समझे तो अभिलेख की प्रतिलिपि प्राप्त करे। न्यायालय का निर्णय न्याय के सिद्धान्त साम्या और सद्विवेक पर आधारित होना चाहिए।

ग्राम न्यायालय के अध्यक्ष को साक्षियों की जिरह पर नियंत्रण करना चाहिए और उसे विचारणीय बिन्दुओं से प्रत्यक्षतः सुसंगत और सुनिश्चित प्रश्नों पर ही केन्द्रित होना चाहिए। उसे इधर-उधर और अंदाज लगाने वाले प्रश्नों को किये जाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए। वास्तव में इसे समयबद्ध कर देना चाहिए। न्यायालय के लिए यह छूट होगी कि वह मौखिक साक्ष्य के स्थान पर शपथपत्र को ही पर्याप्त समझे। यदि पक्षकार ऐसा चाहते हैं तो बिना सुनवाई का अवसर दिये किसी व्यक्ति को भर्त्सना नहीं करना चाहिए और प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का न्यूनतम पालन विवादों के विचारण में करना चाहिए, प्रकृति न्याय के न्यूनतम सिद्धान्त का अर्थ है :— (1) बिना सुनवाई का अवसर दिये किसी की भर्त्सना नहीं की जानी चाहिए, और (2) किसी को भी अपने विवाद के निर्णय का स्वयं अधिकार नहीं होना चाहिए। निर्णय न्याय साम्या और सद्विवेक के आधार पर होना चाहिए, विचारण के अंत में यदि निर्णय पक्षकारों की सहमति के आधार पर नहीं है तो अध्यक्ष न्यायाधीश विवाद का संक्षिप्त विवरण साक्ष्य और अपना निर्णय तथा उसका कारण लिखेगा। इसी पर सभी तीनों न्यायाधीशों के हस्ताक्षर होंगे। यदि मतभेद होता है तो बहुमत का निर्णय बाध्यकारी होगा। विधि के प्रश्न पर अध्यक्ष न्यायाधीश का निर्णय साधारण न्यायाधीशों के लिए बाध्यकारी होगा।

कार्यवाही के मध्य यदि ग्राम न्यायालय को यह अनुभव होता है कि विवाद ऐसा था, जिसका विचारण अन्य न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए था और जिसकी अधिकारिता इसे प्राप्त नहीं है, तो इसे अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायालय को उचित न्यायालय में जिसे विवाद के विचारण अधिकारिता प्राप्त हो, अंतरित करने के लिए भेज देना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी अन्य न्यायालय के समक्ष ऐसी कार्यवाही है, जिसका विचारण ग्राम न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए तो न्यायालय को कार्यवाहियों को अधिकारिता रखने वाले जिला न्यायालय को भेज देना चाहिए, जो उस मामले में अधिकारिता रखने वाले ग्राम न्यायालय को उसे अंतरित कर देगा।

न्यायालय की संरचना।

6.9. तालुक या तहसील स्तर के ग्राम न्यायालय के कार्यालय में ग्रस्त व्यक्ति का परिवाद प्राप्त होने पर इसे अध्यक्ष न्यायाधीश के समक्ष रखा जायेगा। यदि वह उपलब्ध नहीं है तो उसके मुख्यालय लौटने और परिवाद प्राप्त होने के 24 घंटों के भीतर यह उसके समक्ष रखा जायेगा। जब परिवाद अध्यक्ष न्यायाधीश के समक्ष रखा जाता है तब वह उस विवाद की प्रकृति से परिचित होने के उपरान्त और उस स्थान की जानकारी करने के उपरान्त जहां विवाद उत्पन्न हुआ है विवाद के निकटतम के दो ऐसे व्यक्तियों जिनका नाम पहले से ही दिये हुए पैनल में है, न्यायालय के लिए आमंत्रित करेगा। यदि उनमें से कोई विवाद से अथवा कोई पक्षकार से अपना संबंध या हित बताता है तो उसे यह कार्य करने से अध्यक्ष न्यायाधीश द्वारा मुक्त कर दिया जाना चाहिए और उसके स्थान पर पैनल में से किसी दूसरे व्यक्ति को इस कार्य के लिए चयन किया जाना चाहिए। यदि विवादों के पक्षकारों में से कोई एक पक्ष अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति या महिला है तो अध्यक्ष न्यायाधीश उचित संभव प्रयत्न करेगा कि साधारण न्यायाधीशों में एक अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति या महिला हो। इनका चयन अन्य मुकदमों के लिए भी किया जाना चाहिए किन्तु उपयुक्त परिस्थितियों में साधारणतया उनमें एक को न्यायालय का सदस्य अवश्य होना चाहिए। पक्षपात का कोई भी सही आरोप सदस्यों को अनर्ह बना देगा। अध्यक्ष न्यायाधीश को यह स्वतंत्रता होगी कि वह इन्हीं को चयन किये गये सदस्यों को अन्य मुकदमों के लिए भी न्यायाधीश जारी रखे यदि वे दूसरी प्रकार से अनर्ह नहीं है तो यह तीनों व्यक्ति न्यायालय की संरचना करेंगे, यही तीन न्यायालय के रूप में अधिष्ठित होंगे। ये एक मत से अथवा बहुमत के आधार पर निर्णय करेंगे।

अपराधिक कार्यवाहियों में प्रक्रिया।

6.10 संविधान के अनुच्छेद 21 को ध्यान में रखते हुए इस बात का भी ध्यान रखते हुए कि उन पर बहुत विस्तृत दंडित अधिकारिता प्रदत्त की गई है, अपराधिक मुकदमों के विचारण के समीचीन प्रक्रिया का निर्माण आवश्यक है। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में विहित सम्मन व वारन्ट मुकदमों के लिए प्रक्रिया अनुच्छेद 21 में दिये परीक्षणों पर खरा उतरा है। परिचर्चाओं में भाग लेने वाले वक्तों ने अत्याधिक जोरदार शब्दों में इस बात पर बल दिया है कि यदि ग्राम न्यायालयों को विस्तृत दंडित अधिकारिता देने का साहसपूर्ण कार्य किया जा रहा है तो यह सुरक्षात्मक उपाय किया जाना चाहिए कि इसके समक्ष चलने वाली सभी कार्यवाही दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अनुसार होगी। दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अपराधों के विचारण के लिए प्रावधान अभियुक्तों के पक्षपाती हैं और अधिकांश मामलों में वास्तविक अपराधी प्रक्रिया संबंधी नियमों के पालन पर जोर दिये जाने के कारण ही बच जाता है। किन्तु इस धारणा के साथ भी, प्रथम पग के रूप में, यह अच्छा होगा कि ग्राम न्यायालय के समक्ष अपराधों के विचारण के लिए दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 विहित प्रक्रिया को चालू रखा जाए। साक्ष्य अधिनियम जैसा है उस तरह नहीं लागू होना चाहिए। इसके कुछ प्रविधान से न्याय के दुरुपयोग होने की संभावना रहती है। इस संबंध में एक दृष्टांत उपयुक्त विचार को स्पष्ट करता है। प्रसिद्ध गांधीवादी सामाजिक कार्यकर्ता श्री रवि शंकर महाराज ग्रामीण जनों के सशक्तीकरण के लिए वालका में (गुजरात) एक प्रयोग लोगों को अपराधिक क्रियाकलापों से दूर रखने के लिए रख रहे थे। उन्होंने समर्पित सामाजिक कार्यकर्ताओं का एक काडर तैयार किया था। इन अपराधिक क्रियाकलापों से जो लोग लाभान्वित हो रहे थे, उन्होंने रवि शंकर महाराज को बाधा स्वरूप पाया। महाराज के एक निकटतम सहयोगी का हत्या कर दी गयी। पुलिस घटना स्थल पर तो गयी किन्तु उसने कोई कार्यवाही नहीं की। गांधीवादी परम्परा के अनुसार उन्होंने हृदय परिवर्तन के लिए अनशन किया। एक सायंकाल उनके समक्ष दो व्यक्ति आये और सामाजिक कार्यकर्ता की हत्या करने का दुष्कर्म स्वीकार किया। रवि शंकर महाराज ने उनकी बात सुनकर उनसे पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण करने को कहा जिससे कानून अपना कार्य कर सके। तदनुसार अपराधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। जांच कार्य पूरा हुआ और उनका चालान किया गया। मुकदमा सत्र न्यायालय के सुपुर्द हुआ। सत्र न्यायाधीश के समक्ष रवि शंकर महाराज को एक साक्षी के रूप में रखा गया कि वह बाह्य न्यायिक संस्वीकृति सिद्ध करें क्योंकि उन अपराधियों ने संस्वीकृति को वापस ले लिया था। रवि शंकर महाराज की सत्यता, ईमानदारी, निष्ठा और विश्वनीयता में किसी को भी नहीं, न्यायाधीश को भी कोई संदेह नहीं था। उन्होंने अपनी साक्ष्य दी। कोई कारण नहीं कि इस साक्ष्य को स्वीकार न किया जाय। यदि इसे स्वीकार कर लिया गया होता तो अभियुक्तों के विरुद्ध अभेद्य मामला था। जिरह में प्रतिरक्षा के अधिवक्ता ने रवि शंकर महाराज के साक्ष्य को तनिक भी नहीं हानि पहुंचायी। उसने केवल एक प्रश्न किया कि क्या अभियुक्त जब उनके समक्ष उपस्थित हुए और अपराधी की संस्वीकृति की कि उन्होंने हत्या की थी, उस समय पुलिस कमरे के दरवाजे के पास उपस्थित थी। इसका उत्तर उन्होंने हां में दिया। साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के उपबंध का अवलंब लिया गया और बाह्य संस्वीकृति से बाह्य साक्ष्य को सबूत के लिए अग्राह्य माना गया। आरोपित व्यक्ति मुक्त कर दिये गये। बाद में रवि शंकर महाराज ने कहा कि ब्रिटिश शासकों द्वारा चलायी गई न्याय प्रणाली में अन्याय की वृद्धि करने की प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। इस प्रकार के अनेक दृष्टांत दिये जा सकते हैं। अतः आयोग का मत है कि साक्ष्य अधिनियम जिसका अधिनियमन सौ वर्ष पूर्व हुआ था, कठोरता के साथ ग्राम न्यायालयों के समक्ष अपराधिक कार्यवाहियों में लागू नहीं किया जाना चाहिए। अधिक सरल प्रक्रिया बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए जो संविधान के अनुच्छेद 21 में दिये परीक्षणों पर भी खरा उतर सके।

अधिवक्ताओं की उपस्थिति।

6.11 ग्राम न्यायालयों के समक्ष चलने वाली कार्यवाहियों में वकीलों की उपस्थिति के जैसे विवादास्पद प्रश्न पर करीब-करीब सभी एक मत थे। न्याय पंचायतों से संबंधित अधिकांश अधिनियमों में विनिर्दिष्ट रूप से न्याय पंचायतों के समक्ष की कार्यवाहियों से वकीलों को अलग रखने की बात कही है। कार्यशालाओं में भाग लेने वालों ने और उन लोगों ने जिन्होंने अपने मत लिखित दिये हैं, वकीलों को छोड़कर, सभी इस बात पर एक मत थे कि ग्राम

न्यायालय के समक्ष वकीलों की उपस्थिति की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिये। विधि आयोग की 14 वीं रिपोर्ट से लेकर अन्य रिपोर्टों तथा समितियों की रिपोर्टों में जिन में इस विषय की चर्चा की गयी है, सब का यही मत रहा है। यह आयोग इस संबंध में पूर्व मत से थोड़ा हट कर विचार देना चाहता है और इसके लिये उसके पास अच्छे कारण हैं। आयोग की तथा समितियों की सभी पूर्व रिपोर्टों में न्याय पंचायत को बहुत थोड़ी अधिकारिता देने की संस्तुति दी गयी थी। अब ग्राम न्यायालय को विस्तृत सिविल और दांडिक अधिकारिता देने की बात की जा रही है, यद्यपि विवादों की प्रकृति सरल और सुलझी होगी। फिर संविधान के अनुच्छेद 22 में दिये उपबंधों को दृष्टि में रखने से दांडिक कार्यवाहियों से वकीलों की उपस्थिति को समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार का कोई सुझाव कि उन कार्यवाहियों में वकील न रहें संविधान का उल्लंघन होगा। हमारी पहुंच वकीलों को कार्यवाहियों से बाहर रखने से नहीं वरन् उनकी उपस्थिति को कम करने की होनी चाहिये। हमारे प्रयास उनकी उपस्थिति को समाप्त करने का नहीं वरन् वकीलों द्वारा कार्यवाहियां लम्बित रखने, प्रक्रिया को कानूनी सिद्धान्त का रूप देने और तकनीकी बनाने से बचाने का होना चाहिये। भारत के संविधान का यह आधार भूत सिद्धान्त है कि समाज को विधि संभव शासन से शासित होना चाहिये। हां यह आवश्यक है कि विधि के अर्थ वकीलों के विधि से नहीं वरन् विधि जो सामान्य बुद्धि द्वारा परिभाषित हो और एक अन्य कारण जो वकीलों की उपस्थिति को लेकर पूर्वमत से हटने को बाध्य कर रहा है वह है विधि प्रशिक्षित व्यक्ति की सहभागी पीठ में उपस्थिति। अतः आयोग का मत है कि ग्राम न्यायालय के समक्ष होने वाले पक्षों को अधिकार होगा कि अपनी इच्छानुसार वकील सिविल और दांडिक कार्यवाहियों में रख सके और उनके द्वारा उपस्थिति हो। किन्तु पूर्व के अनुभव की पुनरावृत्ति न हो इसलिये वकीलों की उपस्थिति दो सुनिश्चित शर्तों पर आधारित होगी। (1) ग्राम न्यायालय को पक्षकार के वकील की सुविधा के लिये मुकदमा को स्थगित करने की कोई अधिकारिता नहीं होगी और (2) वकील की सुविधानुसार मुकदमे की सुनवाई का स्थान नहीं बदला जायेगा। पक्षकारों को इसलिये भी कोई स्थगन नहीं दिया जायेगा कि वे वकील करना चाहते हैं। अतः सभी पक्ष जो न्यायालय के सामने उपस्थित होना चाहते हैं और वकील की सहायता लेना चाहते हैं उन्हें पहले से ही इसकी व्यवस्था करनी होगी। यह कोई तर्क नहीं होगा कि एक पक्ष को यह पता नहीं था कि दूसरे पक्ष ने वकील की सहायता ले रखी है, अतः दूसरे पक्ष को भी वकील करने का अवसर मिलना चाहिये और इसलिये मुकदमा स्थगित करना चाहिये। इस प्रकार की पहुंच से बचना चाहिये।

कानूनी सहायता। 6.12 इस प्रकार की कार्यवाही में कठिनाई को समाप्त करने के आयोग की यह राय है कि राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के लिये प्रस्तावित विधि सेवा आयोग जो प्रस्तावित राष्ट्रीय अवधि सेवा अधिनियम के अधीन स्थापित किया जायेगा। प्रत्येक ग्राम न्यायालय के लिये दो वकीलों को नियुक्त करे जिनकी सेवायें पक्षकारों को यदि उनकी इच्छा हो तो तुरन्त मिल सके। ये वकील दलीय प्रभाव से दूर होंगे और विवादों के निपटारे में न्यायालय की सहायता करेंगे। चूंकि वे न्यायालय से ही संबद्ध होंगे। अतः उनकी सुविधानुसार कार्यवाही स्थगित रखने का कोई प्रश्न ही नहीं होगा। इन सुरक्षात्मक उपायों के साथ आयोग कार्यवाहियों में वकीलों के भाग लेने की प्रथा को बनाये रखने का पक्षधर है। अतः पक्षकारों को इस बात की अनुमति होनी चाहिये कि ग्राम न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों में अपनी पसन्द के अनुसार वकील कर सकें।

दांडिक कार्यवाहियों में अभियुक्त को यह अधिकार होगा कि अधिकार के रूप में वह वकीलों की सेवाएं प्राप्त करें और ग्राम न्यायालय को उसकी सुविधानुसार कार्यवाही स्थगित करने की अधिकारिता नहीं होगी अथवा न्यायालय का स्थान पक्षकारों की सुविधानुसार परिवर्तित करने की अधिकारिता नहीं होगी।

सूचना प्राप्त करने की शक्ति। 6.13 ग्राम न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त होगी कि वह किसी भी स्रोत से सूचना प्राप्त करे जो उसे उसके समक्ष लाये गये विवाद को न्यायपूर्ण ढंग से निर्णय देने में आवश्यक हो। ग्राम न्यायालय को इस लिये भी न्यायपूर्ण ढंग से निर्णय देने में कोई बाधा नहीं पहुंचनी

चाहिये कि उपलब्ध सामग्री पक्षकार उसके समक्ष लाने में असफल रहे हैं। इस समय न्यायालय अपने स्वयं प्रेरणा से ऐसा नहीं कर सकते हैं। इस वर्तमान बाधा को दूर करने के लिये यह वांछनीय है कि ग्राम न्यायालय को यह शक्ति दी जाये कि वह यथा आवश्यक जांच पड़ताल कर सके जिससे कोई भी सामग्री जो इसके समक्ष विवाद ग्रस्त प्रश्न पर प्रकाश डाल सके, इसकी दृष्टि से ओझल न रहे।

ग्राम न्यायालय को अपनी भूमिका के प्रति सदैव सचेत रहना होगा कि इससे यह आशा की जाती है कि वह वकीलों की सहायता के बिना भी विवादों पर निर्णय दे सकती है। प्रारम्भिक अवस्था में तो पक्षकारों के बीच समझौते का मार्ग अपनाना पड़ेगा और इसे समझौता बोर्ड की भूमिका निभानी पड़ेगी। किन्तु यदि यह इस कार्य में सफल नहीं होता है तो और इसे निर्णय देने की भूमिका अपनानी पड़ती है तो इसे विवाद को केवल यह कहकर नहीं समाप्त कर देना चाहिये कि न्यायालय के पास जो भी सामग्री है उसी के आधार पर निर्णय किया जाता है। इसे संतोषजनक ढंग से और अन्तिम रूप से विवाद पर निर्णय करना चाहिये तथा सरकारी अभिलेखों तथा अन्य स्रोतों से अपनी शक्ति का प्रयोग कर सामग्री एकत्रित करनी चाहिये। तदनुसार ही ग्राम न्यायालय को यह शक्ति होगी कि :—

क. वह किसी भी व्यक्ति को उपस्थित रहने के लिये बाध्य कर सके और या कपट पूर्वक उसका बयान ले सके।

ख. वह कागजातों और भौतिक सामग्रियों को न्यायालय में लाये जाने के लिये बाध्य कर सके।

ग. साक्षी शारीरिक अक्षमता के कारण इसके समक्ष उपस्थित होने में असमर्थ है तो साक्षियों के बयान के लिये आयोग नियुक्त कर सकें, और

घ. अन्य चीजें जो इसे निहित की जायें।

भाषा। 6.14 ग्राम न्यायालय के समक्ष की कार्यवाहियां राज्य की राजभाषा में सम्पादित की जायेंगी, जिसमें स्थानीय बोलियों का प्रयोग अनुमत होगा। ग्राम न्यायालय के अभिलेख राज्य की राजभाषा में रखे जायेंगे और जो व्यक्ति उनकी इच्छा करेगा उसे उसकी प्रतिलिपि दी जायेगी। इस प्रकार के कार्य से यह सुनिश्चित हो सकेगा कि वादकारी के यह समझ में आयेगा कि न्यायालय में क्या हो रहा है। यदि पक्षकारों की सहमति नहीं होती है तो न्यायालय के निर्णय भी न्यायालय की भाषा में दिये जायेंगे।

न्यायालय शुल्क। 6.15 इस बात पर सुन्दर चर्चा हुई कि क्या ग्राम न्यायालयों के समक्ष की कार्यवाहियों के लिये न्यायालय शुल्क लगाना चाहिये। भूतकाल में भारत सरकार के विधि एवं न्याय मंत्री न्यायालय शुल्क को उत्साहित किये जाने के पक्के पक्षपाती थे। इस दिशा में अभी कोई ठोस परिणाम नहीं हुए हैं। यहां तक कि मुख्य न्यायाधीश मुख्य मंत्रियों और विधि मंत्रियों का सम्मेलन जो 1985 में सम्पन्न हुआ था, इस प्रश्न पर कोई मत देने में असमर्थ रहा। कई राज्यों ने इस प्रस्ताव का जोर विरोध किया है। ऐसे लोग जो न्यायालय शुल्क को उत्साहित करने के पक्ष में हैं उनका कहना है कि न्यायालय शुल्क न्याय पर एक कर है और कोई भी सभ्य समाज न्याय पर कर नहीं लगा सकता है। दूसरा मत था कि एक गरीब व्यक्ति को न्यायालय शुल्क के संदाय न करने के कारण उसे न्याय पाने में गम्भीर बाधा उठानी पड़ती है। इस प्रश्न को कि न्यायालय शुल्क लगाना न्यायोचित है कि नहीं: यहीं पर छोड़कर आयोग के द्वारा दिये हुए दृष्टिकोण से सभी सहमत थे कि ग्राम न्यायालय के समक्ष की कार्यवाहियों के लिये जो ग्रामीण निक्षेपों की आवश्यकताओं को बहुत बड़ी मात्रा में पूरा करेगी, न्यायालय शुल्क को लगाये जाने को पुराना दोष मान लिया जाना चाहिये। इस प्रकार के विचार को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आयोग न्यायालय लगाने के विरुद्ध है। वास्तव में विशिष्ट जनों और नियमित क्षेत्रों, जो न्यायालयों का प्रयोग यथार्थवादी

प्रश्नों को लेकर झूठमूठ लड़ते हैं, उनके ऊपर भारी न्यायालय शुल्क लगाना चाहिये और यह इतना अधिक होना चाहिये कि न्यायालय स्थापना की पूरी लागत उससे प्राप्त हो सके। इस सुझाव में कोई नई या चौंका देने वाली बात नहीं है। इस दिशा में केलीफोर्निया (यू. एस. ए.) में पहले ही शुरुआत की जा चुकी है। नियमित क्षेत्र की प्रवृत्ति को दृष्टि में रखकर कि वह गौड़ प्रश्नों पर तर्क कर न्यायालय का समय खर्च करते रहते हैं, इस मत पर बाद में विचार किया जायेगा। फिर भी ग्राम न्यायालय के समक्ष कार्यवाहियों में विवादों की प्रकृति, वादकारियों के वर्ग और इसके समक्ष उपस्थित होने वाले पक्षकारों की आर्थिक अवस्था को ध्यान में रखकर न्यायालय शुल्क लगाया जाना उपयुक्त होगा। यह आयोग का सुविचारित मत है कि ग्राम न्यायालय के समक्ष की कार्यवाहियों में कोई न्यायालय शुल्क नहीं लगाया जाना चाहिये।

यातायात।

6.16 मूलगामी स्तर पर ही विवादों को निपटाये जाने के लिये नयी पीठ की संरचना के तीन उद्देश्यों (1) न्याय प्रणाली सहभागिता (2) विवादों का शीघ्र निपटारा, और (3) न्याय जनता के द्वार तक पहुंचे, की प्राप्ति होती है तो यह अत्यावश्यक है कि ग्राम न्यायालय को सरलता से चलाया जा सके। अतः इस प्रकार के किसी भी प्रयास को जिसके द्वारा न्यायालय औपचारिक ढंग से मुख्यालय पर ही काम करे समाप्त किया जाना चाहिये। यदि इस बारे में कोई ढील नहीं करती है तो यह आवश्यक है कि ग्राम न्यायालय को यातायात के लिये वाहन दिया जाना चाहिये। गांवों की सड़कें सभी ऋतुओं के लिये ठीक नहीं होती हैं और ठीक हालत में नहीं होती हैं। अतः यह आवश्यक है कि ग्राम न्यायालय के अध्यक्ष न्यायाधीश को यातायात के लिये जीप दी जानी चाहिये। इससे सभी राजकीय कार्यों, जिनमें साधारण न्यायाधीशों का भी यातायात सम्मिलित है, के लिये उपलब्ध होना चाहिये। यह एक कटु सत्य है कि आधुनिक तकनीकी उन्नति से भारतीय विधि प्रणाली से अछूता रह गया है। अभी अधिक दिन नहीं हुए जब जिलाधीश को टेलीफोन दिया गया। अब भी उसे यातायात के लिये वाहन नहीं दिया जाता है। अब समय आ गया है कि यह समाप्त हो और आधुनिक उपकरणों का प्रयोग निर्बाध रूप से किया जाये। यातायात का साधन ऐसी ही आधुनिक सुविधा है।

अपील का पुनरीक्षण।

6.17 क्या ग्राम न्यायालय के निर्णय का उच्च स्तरीय पुनर्विलोकन करने के लिए कोई प्रावधान होना चाहिए। इस बारे में मत विभाजित था, किन्तु ग्राम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कम से कम एक अपील करने के पक्ष में मत था। प्रश्न उठा कि क्या ग्राम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील होनी चाहिए या विधि के प्रश्न पर अगले उच्चतम न्यायालय द्वारा एक संक्षिप्त पुनरीक्षण का ही अनुमति दी जानी चाहिए। यह एक प्रश्न है। यह मत कि निर्णय के उच्चतर न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन से न्याय की आश्वस्ति होती है, निराधार है। अपील होने से उस वादकारी के मन में एक भ्रम उत्पन्न होता है, जिसके विरुद्ध निर्णय दिया गया होता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सर्वोत्तम रूप से विधि प्रशिक्षित व्यक्ति भी त्रुटि कर सकता है। अपीलीय न्यायालय द्वारा निर्णय के पुनर्विलोकन का अधिकार इस बात की गारन्टी करता है कि निर्णय पक्षपातपूर्ण और मनमाने ढंग से नहीं होंगे। इससे आश्वस्त हुआ जा सकता है कि पूर्ण रूप से स्वीकृत विधि सिद्धान्तों के विरुद्ध निर्णय नहीं है। लेकिन इसे गर्व का भाव भी उत्पन्न होता है विशेषतः जहां जहां पक्षकारों की क्षमता समान नहीं होती है और दोनों में से कमजोर ने निर्णय अपने पक्ष में प्राप्त किया होता है। ऐसी स्थिति में वह पक्ष जो धन से स्थिति में अच्छा है वह निर्णय को अपने ऊपर कलंक मानता है और उसका अपील करने में दो उद्देश्य होता है। वह अपने अहं की तुष्टि करना चाहता है और साथ ही साथ विरोधी को थका कर हरा देना चाहता है या बार बार अपील कर उस पर इतना खर्च का बोझ लाद देता है कि न्याय पाने का प्रयत्न मृग तृष्णा सिद्ध होता है।

अपील का ही प्रावधान अपने आप में इस बात की गारन्टी नहीं है कि निर्णय उचित ही होंगे: इसमें कुछ अंशीक्षण का भाव भी सम्मिलित है। यह अवधारणा कि उच्चतर न्यायालय में अपील करने से न्याय पाने का आश्वासन मिल जाता है भ्रम पूर्ण है। इस तथ्य के असंख्यानेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिसमें वादी विचारण न्यायालय में विजयी

हुआ, जिला न्यायालय में प्रथम अपील में हार गया और उच्च न्यायालय में द्वितीय अपील में पुनः विजयी हुआ और उच्चतम न्यायालय में विरुद्ध पक्ष द्वारा अपील करने पर पुनः हार गया। इन चारों में से कौन सा निर्णय सही था और न्यायालयों के गलियारों में कहावत है कि यदि उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध भी कोई अधिक खर्ची पीठ होती है तो इस बात की संभावना है कि वह निर्णय भी उलट दिया जाता है। यह सब कुछ कहने सुनने के बाद सही समझ में आता है कि निर्णय करने कि प्रक्रिया में आत्मपरता को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता है। इस तरह के साथ ही सामाजिक दृष्टि से लाभदायक कानून का भाष्य करते समय विभिन्न न्यायालय के न्यायाधीशों का सामाजिक दर्शन और मूल्यांकन करने की विधि बहुत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निर्णय करने की प्रक्रिया में निभाते हैं। उच्चतम न्यायालय द्वारा उच्च न्यायालय के अनेकोनेक निर्णय का उलट दिए जाने के क्या कारण दिए जा सकते हैं और उच्चतम न्यायालय के निर्णय उसकी ही बृहत्तर पीठ द्वारा उलटने का क्या कारण हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि यदि किसी साक्ष्य की आवश्यकता है कि निर्णय करने की सभी प्रक्रिया में आत्मपूरक बात होती है। दूसरे हो कम किया जाना, नियमित किया जाना, अवरुद्ध और यथासंभव समाप्त किया जाना चाहिए। यह बताने के बाद भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि यह बना ही रहता है। फिर भी यह कहना सत्य नहीं होगा कि उच्चतर स्तर पर त्रुटियां नहीं होती हैं, उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध करने के लिए उच्चतम न्यायालय के अनेकोनेक निर्णय देखे जा सकते हैं, जिनमें विचारण न्यायालय का निर्णय जो उच्च न्यायालय द्वारा अपास्त किए गए थे, उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनः स्थापित किए गए हैं। अंतः यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अपील का उपबन्ध इस बात की कोई गारन्टी नहीं है, इसके द्वारा न्याय ही होगा यह निर्णय मनमाने ढंग या पक्षपात पूर्ण नहीं होंगे।

यह बात भी सत्य है कि ऐसा कोई नहीं है जो गलती न करता हो। तदनुसार ही अपील के न्यायालय को त्रुटियों का न्यायालय बताया गया है। अतः इसकी अधिकारिता विचारण न्यायालय के साथ सहअस्तित्व आती है। ऐसा कहा गया है कि कम से कम कोई एक ऐसी पीठ होनी चाहिए जिसे नवनियोजित ग्राम न्यायालय की त्रुटियां ठीक करने की शक्ति प्राप्त हो।

भूतकाल में जब न्यायपंचायत के पास बहुत सीमित अधिकारिता थी तब भी इस बात से सहमत थे कि इसके निर्णय के विरुद्ध किसी अपील की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। अगले उच्चतर न्यायालय में साधारणतया पुनरीक्षण किया जा सकता था। इसका कुछ प्रभाव यह हुआ कि जैसा ऊपर इंगित किया गया है और पंजाब[1] और मद्रास उच्च न्यायालय[2] ने भी जैसा मत प्रकट किया है, इसके द्वारा न्याय पंचायतों का गला पूरी तरह घोंट दिया गया है। केवल, उन निर्णय को छोड़कर जिनमें सहमति से निर्णय हुए प्रायः सभी निर्णयों में हस्तक्षेप किया गया जिससे साधारण न्यायाधीशों का न्याय करने की क्षमता में उनका आत्म-विश्वास समाप्त हो गया और वादकारियों का भी विश्वास समाप्त हो गया, किन्हीं निर्णयों में न्याय पंचायत के साधारण न्यायाधीशों की निन्दा की भी की गई।

यह एक प्रमुख कारण था कि न्याय पंचायत की पूरी प्रणाली ही मृत प्राय: जैसी।

आगे भी यह कहा गया कि अब ग्राम न्यायालय को चूंकि बहुत विस्तृत अधिकारिता प्रदान की जा रही है, अतः कम से कम एक अपील का अवसर दिया ही जाना चाहिए। उन दांडिक मुकदमों में सिद्ध सारवान सजा दी जाती है, को छोड़कर विधि आयोग को ग्राम न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध किसी भी मामले में अपील का उपबन्ध बनाए जाने की बहुत अधिक हिचक है क्योंकि पूर्व अनुभव यही रहा है कि अपील के विरुद्ध अपील होती रही और अंतिम निर्णय वादकारी के जीवनकाल में प्राप्त नहीं हो सका। ठीक उसी प्रकार हुआ जैसे चार्ल्स डिकेन्स के 'बलीक हाउस' की कहानी में।

1. सरदा मंजाली वि. संथाम मल्लारि ए. आई. आर. 1960 पंजाब।

2. वेंकटचारी नायकर वि. ट. पंचायत बोर्ड आफ इंडापुर ए.आई. आर. 1953 मद्रास 881

ग्राम न्यायालय इस बात की किसी सीमा तक आश्वासित देता है कि विचारण और निर्णय उसी के अपने लोगों द्वारा किया गया है। अतः इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि निर्णय की इस प्रक्रिया में लोगों का विश्वास हो। अनुभव यह भी बताता है कि अपील की पीठ द्वारा ही यह आवश्यक नहीं है कि सभी रोगों का इलाज हो सके इसके द्वारा भी त्रुटियां हो सकती हैं फिर एक विकास जिसमें अन्य लोगों के अतिरिक्त साधारण न्यायाधीश भी है, उसके निर्णय के विरुद्ध किसी एक न्यायाधीश को अपील सुनने का अधिकार देना अन्त विरोधी होगा। अन्तिम शरण का यह है कि यदि एक बार अपील की आज्ञा दी गई तो इससे सहमति द्वारा निपटारे के सिद्धान्तों की जड़ पर कुठाराघात होगा जो ग्राम न्यायालय का प्राथमिक उद्देश्य है। अतः सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आयोग का यह मत है कि ग्राम न्यायालय के किसी भी निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकेगी सिवाय उन दांडिक मुकदमों के निर्णयों के विरुद्ध जिनमें सारवान सजा दी गई है।

एक दूसरा मत था कि यदि आयोग ग्राम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील करने के पक्ष में नहीं है तो ग्राम न्यायालय के निर्णय में संभावित विधि की त्रुटियों का सुधार करने के लिए, उन त्रुटियों को जिन्हें यदि सुधारा नहीं गया तो ग्राम न्यायालय के ही निर्णय प्रभावित होंगे। विधि के प्रश्नों पर पुनरीक्षण का उपबंध किया जाना चाहिए और उसके लिए जिला न्यायालय ही पीठ होनी चाहिए। आयोग इस बात से अपरिचित नहीं है कि ग्राम न्यायालयों के लिए यह भी खतरे का संकेत है। सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1973 (1973 का 49) की धारा 110 हटा दिए जाने के पहले इसमें "विधि का सारवान प्रश्न" शब्द थे। कर्मचारी प्रतिकर अधिनियम की धारा 30 में यह प्रवत्त है कि किसी भी आदेश के विरुद्ध अपील नहीं हो सकेगी जब तक कि उसमें विधि का सारवान प्रश्न निहित नहीं होगा। जब कभी भी अपील दाखिल की जाती थी एक बड़ी रुचिपूर्ण चर्चा इसी बात पर होती थी कि विधि का सारवान प्रश्न किसे कहा जाएगा, इसके बाद के भी उदाहरण बहुत हैं, जिनमें यह निर्णय हुआ है कि साक्ष्य की विकृत रूप से सराहना, या किसी तकनीकी व्यक्ति द्वारा उक्त निर्णय का न दिया जाना या कागजात के बिना किसी अन्य सहायता के अर्थ लगाना---विधि के सारवान प्रश्न हैं। अतः इसके प्रति अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि सीमित अधिकारिता की व्याख्या होते-होते यह इतनी विस्तृत हो जाती है कि सीमित अधिकारिता प्रदान किए जाने का पूरा उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

इसके लिए कोई समझौता किया जाना चाहिए जो एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय तक मुकदमों को भेजता भी न रहे और असंतोष को भी निकास मार्ग मिलता रहे। असंतोष ग्राम न्यायालय के संभावित निर्णयों के विरुद्ध हो सकता है।

आयोग का मत है कि ग्राम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विधि की त्रुटियों को सुधारने के लिए पुनरीक्षण याचिका उसी जिला न्यायालय में दी जानी चाहिए जिस जिले में ग्राम न्यायालय स्थित है। इससे उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति भी होगी। पुनरीक्षण करने वाला न्यायालय पुनरीक्षण याचिका में दी गई त्रुटियों को जिनसे न्याय प्रभावित हुआ है दूर करेगा। किन्तु यदि विधि की त्रुटि से निर्णय सार रूप में प्रभावित नहीं है तो पुनरीक्षण करने वाले न्यायालय द्वारा कोई उसमें छेड़छाड़ नहीं की जाएगी। विधि संबंधी त्रुटि का सुधार तो इस लिए होना चाहिए जिससे उसकी भविष्य में पुनरावृत्ति न हो। पुनरीक्षण करने वाले न्यायालय को ग्राम न्यायालय के निर्णय में इस आधार पर हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा कि यदि उसने तथ्य के प्रश्न को उचित रूप से देखा तो वह किसी दूसरे निर्णय पर पहुंचता। केवल विधि संबंधी त्रुटि ही इस पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा सुधारी जाएगी। इस निर्णय पर पहुंचने के पश्चात् भी कि इसमें दूसरा दृष्टिकोण भी संभव है, ग्राम न्यायालय के निर्णय में हस्तक्षेप करने की अधिकारिता इसे नहीं होगी। साधारण जन के मध्य के लोगों द्वारा दिए गए निर्णय में किसी न्यायालय द्वारा जिसका न्यायाधीश केवल शुद्ध तकनीकी विधिक दृष्टि रखता है, हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। यह सीमित पुनरीक्षण की अधिकारिता विधि संबंधी प्रत्यक्ष त्रुटियों या न्याय की हत्या को रोकने के लिए ही प्रदान किया जा रहा है। अतः आयोग का यह मत है कि ग्राम न्यायालय

के निर्णय के विरुद्ध जिला न्यायालय में, जिसकी अधिकारिता के अंतर्गत ग्राम न्यायालय कार्य कर रहा है, विधि के सारवान प्रश्न पर पुनरीक्षण याचिका दाखिल की जाएगी।

इस मामले में आगे विवाद से बचाने के लिए पुनरीक्षण अधिकरण के निर्णय के विरुद्ध या ग्राम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई भी पुनरीक्षण सिविल विधि संहिता की धारा 115 या संविधान के अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय में की जा सकेगी। उपर्युक्त संशोधन के द्वारा दोनों ही अधिकारिता समाप्त कर देनी होगी।

ग्राम न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध जिसमें ग्राम न्यायालय सारवान द्वारा कारागार की सजा दी गई है, अपील सत्र न्यायाधीश के यहां होगी। अपील विधि और तथ्य दोनों प्रश्नों पर की जा सकेगी। अपील की सुनवाई दंड विधि संहिता के उपबंधों के अनुसार न्यायिक मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी के निर्णयों के विरुद्ध जिस तरह सुनवाई होती है, उसी तरह होगी। इसके अतिरिक्त कोई दृष्टिकोण संविधान के अनुच्छेद 21 का अतिक्रमण करेगा।

अन्य न्यायालयों की अधिकारिता।

6.12 उन मामलों में, जिनकी अधिकारिता ग्राम न्यायालय को प्रदान की जा रही है, ग्राम न्यायालय की अधिकारिता अनन्य है। दूसरे अन्य किसी न्यायालय की अधिकारिता उन मामलों पर समाप्त कर दी जा रही है जिससे किसी प्रकार का विवाद अधिकारिता को लेकर न रहे, इसलिए जैसी पहले की न्याय पंचायतों की अधिकारिता थी उस प्रकार न होकर ग्राम न्यायालय की अधिकारिता को वैकल्पिक नहीं बनाया जाना चाहिए। अधिकारिता के विवाद से बचने के लिए यहां सुनिर्दिष्ट मामलों की अनन्य अधिकारिता ग्राम न्यायालय को प्रदान की जा रही हैं और तत्समान ही सिविल और दांडिक न्यायालयों की अधिकारिता उसी सीमा तक समाप्त की जा रही है।

ग्राम न्यायालय के आदेशों का निष्पादन।

6.19 यह बात बार-बार ध्यान में आई है कि वरिष्ठ न्यायालय और न्यायालय प्रणाली के आलोचक बार-बार कहते रहे हैं कि सिविल प्रक्रिया संहिता, (1908 का अधिनियम 21 (डिक्री) का निष्पादन) वकीलों के लिये स्वर्ग सिद्ध हुआ है। यह भी व्यंग है कि डिक्रीदार की विपत्ति तो डिक्री पाने के उपरान्त प्रारम्भ होती है। निष्पादन की कार्यवाहियां दशकों तक चलती रहती हैं। कुछ प्रकार के मुकदमों में प्रारम्भिक डिक्री पारित करनी होती है, जैसे भागीदारी के विघटन और लेखा संबंधी मुकदमें (आदेश 20, नियम 15) बंधक से मोचन का मुकदमा (आदेश 34, नियम 7) और अन्य इसी प्रकार के मुकदमें। प्रारम्भिक डिक्री अपील योग्य होती है। अतः जब तक सर्वोच्च न्यायालय प्रारंभिक डिक्री की पुष्टि नहीं कर देता है, आगे की कार्यवाहियां वस्तुतः यथास्थान रहती हैं। तब अंतिम डिक्री दी जाती है और तब फिर से वही क्रम प्रारम्भ हो जाता है। यदि अंतिम डिक्री में कोई ऐसी संपदा है जो भूराजस्व के अधीन है तो डिक्री को माल न्यायालय में बंटवारे के लिये भेज दिया जाता है। यह कितना क्रूर मजाक है कि मुकदमेबाजी के बाद मिली डिक्री के फल डिक्रीदार के जीवन में नहीं प्राप्त होते हैं। ग्राम न्यायालय को उसी नियति से बचाने के लिये और इसे उद्दृष्ट प्रकार से कार्य करने के लिये इसके आदेशों के निष्पादन के लिये सरल प्रक्रिया प्रदान की जानी चाहिये। निष्पादन की प्रकृति इस बात पर निर्भर करेगी कि ग्राम न्यायालय ने कैसा अनुतोष प्रदान किया है। यदि अनुतोष के द्वारा खेत या द्वार तक आदमियों, जानवरों या बैलगाड़ियों के आवागमन का रास्ता दिया जाना अनुतोष में प्रदत्त है तो ग्राम न्यायालय को माल अधिकारियों की सहायता से मार्ग को अलग चिह्नित करने और निकालने का प्रभावी कार्य करना है तथा उसके साथ किसी के हस्तक्षेप को निषिद्ध करना है।

इसी प्रकार की प्रक्रिया पानी की नाली, चरागाह, बंटवारा और पैतृक संपत्ति के लिये भी अपनायी जानी चाहिये। दूसरे शब्दों में, अनुतोष के अनुसार डिक्री का फल तुरन्त या थोड़े ही दिन में प्राप्त होना चाहिये। ध्यान में यह बात रहनी चाहिये कि इतना ही नहीं पर्याप्त है कि ग्राम न्यायालय ने निर्णय दिया है वरन् यह भी देखा जाना चाहिये कि अनुचित कार्य करने वाले को अनुचित लाभ से हाथ भी धोना पड़ा है। इस प्रकार की कोई

प्रार्थना अन्तिम स्थगन के लिये न स्वीकार की जानी चाहिये, जिसमें निर्णय से क्षुब्ध पक्षकार ने पुनरीक्षण याचिका न दी हो।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि ग्राम न्यायालय के कुछ निर्णय अवश्य ऐसे होंगे जिनके निष्पादन में कुछ देर लग सकती है। धन संबंधी डिक्री में ग्राम न्यायालय को यह छूट होगी कि किश्तों में संदाय की आज्ञा पारित करे। यदि यह आवश्यक हो गया है कि ग्राम न्यायालय की डिक्री के अधीन धन की वसूली के लिये संपत्ति की कुर्की और बिक्री की जाए तो ग्राम न्यायालय को जल्दी करनी चाहिये। बिक्री का विज्ञापन केवल तहसील में किया जाना चाहिये और बिक्री की घोषणा को बहुत सविस्तार करने की आवश्यकता भी नहीं है। प्रयत्न यही होना चाहिये कि विवाद को यथाशीघ्र समाप्त किया जाए और निर्णय में प्रदत्त लाभ तुरन्त प्रदान हो।

ग्राम और तहसील स्तर के सभी भू-राजस्व अधिकारी, दोनों ही स्तर के पुलिस अधिकारीगण, वन अधिकारी, जिनका कार्य क्षेत्र दोनों स्तरों पर हो, का यह कर्तव्य होना चाहिये कि ग्राम न्यायालय की सहायता उसके कार्यों और कर्तव्यों को निर्वाह करने में दें। यदि उपर्युक्त अधिकारीगण अपने कर्तव्य में असफल होते हैं तो इसे अवचार माना जाना चाहिये और ग्राम न्यायालय को इस प्रकार की शक्ति दी जानी चाहिये कि ऐसे अवचार करने वाले अधिकारी के विरुद्ध प्रभावी कार्यवाही कर सके।

ग्राम न्यायालय के कार्य विधि से संबंधित विभिन्न मामलों के संबंध में एक सरल संहिता तैयार की जानी चाहिये। राज्य सरकार उच्च न्यायालय से विचार विमर्श कर इस संबंध में सरल नियमों को अधिनियमित करे जिससे सभी ग्राम न्यायालयों की कार्यप्रणाली में एकरूपता स्थापित हो सके।

संपर्क अधिकारी।

6.20 भारतीय समाज विधि सम्मत शासन से शासित है। यह सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त है कि समाज को विधि से शासित होना चाहिये न कि व्यक्ति से क्योंकि सर्वोत्तम व्यक्ति किन्हीं परिस्थितियों में मनमाने ढंग से कार्य कर सकता है। संविधान का अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समानता और विधि द्वारा समान संरक्षण की गारंटी देता है। स्वतंत्रता के उषा काल में भारतीय समाज एक सामन्तवादी समाज और ऊपर से नीचे तक धर्मतंत्रीय था तथा कमोबेश एक वर्ग द्वारा इसके वर्ग के शोषण पर आधारित था। संविधान ने एक समतावादी समाज की परिकल्पना की है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को संचालित करेगा। समाज की आधारभूत संक्रांति विधि द्वारा ही की जाती है। अतः विधि की समाजशास्त्रीय दृष्टि प्रमुख विचार ग्रहण कर चुका है।

संपदा के समान पुनर्वितरण, जातीय प्रभुत्व का उन्मूलन, छुआछूत की समाप्ति और दरिद्रता को दूर करने आदि के संबंध में अनेक कानूनों का अधिनियम किया जा चुका है। ग्रामीण निर्धनों की दशा में सुधार के लिये अनेक कानून बनाये जा चुके हैं। संविधान के भाग 4 में अब विधि सम्मत मान्यता प्राप्त कर ली है।[1] यदि केवल विधि के अधिनियमन से ही समाज में आधारभूत परिवर्तन लाया जा सकता था तो देश अपना लक्ष्य बहुत पहले प्राप्त कर चुका होता। यह अब सभी को अनुभव हो चुका है कि केवल कानूनों का अधिनियमन सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक पग भला है।

आवश्यक कानूनों के अधिनियमन के पश्चात उनका निष्पादन और क्रियान्वयन दूसरा पग होता है। कानूनों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिये कानूनों द्वारा उपबंधित लाभों, अधिकारों और कर्तव्यों की जानकारी उन व्यक्तियों तक पहुंचनी चाहिये जिन पर इन कानूनों को लागू कार्य होना है। हमारा निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य और प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार की प्रगति संतोषजनक नहीं रही है। अब भी समाज का बहुत बड़ा वर्ग है, जिसे अशिक्षित कहा जा सकता है। कानूनों का अधिनियमन अभी औप निवेशिक बंध से मुक्त

1. अनुच्छेद 31ग, भारत का संविधान।

नहीं है। विधि का ज्ञान टेक्नोक्रैट, न्यायाधीशों, वकीलों और विधि पंडितों का ही एकाधिकार है। इस स्थिति का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि जिनके लाभ के लिये कानून बनाये गये वही कानूनों से अपरिचित रहे हैं। विधिक साक्षरता और विधिक चैतन्य वर्तमान देन है।

यदि जिनके लिये कानूनों का सृजन हुआ है वे इससे अपरिचित हैं तो यह संभव नहीं है कि उनसे अपेक्षा की जाए कि वे अपने अधिकारों के दावे प्रस्तुत करेंगे या उनके लिये आन्दोलित होंगे। यदि उन्हें अधिकारों का ज्ञान हो भी जाता है तो उन्हें उन लाभों को यथार्थ रूप देने के लिये प्रयास करना होगा। विधि के क्रियान्वयन के लिये अनेक प्रकार के न्यायालय माध्यम के रूप में बनाये गये हैं। अनेक लेखकों द्वारा इस दुखद अनुभव की अनुभूति की गई है कि विधिक साक्षरता और अधिकारों के प्रति चैतन्य न होने के कारण कानूनों के लाभार्थी उन लाभों को उठाने के लिये पग उठाने में असमर्थ रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि कानूनों की पुस्तकों में दुर्बलों, दलितों और जरूरतमंद लोगों के लाभ के लिये अनेक कानून बनाये गये हैं, किन्तु उनसे लाभ अत्यन्त असंतोषजनक हुआ है।

यह प्रश्न पूछा जाना चाहिये: यह क्यों हुआ? इसके दो उत्तर सामने दिखाई देते हैं। पहला, जैसा पहले कहा जा चुका है, अधिकारों के बारे में ज्ञान और दूसरा सबसे खराब है अधिकारों के लाभ के लिये मुकदमेबाजी की प्रक्रिया अपनाने की अक्षमता। यह दूसरा तत्व ही सारे किये कराये पर पानी फेर देता है।

एक स्पष्ट दिखाई देने वाली प्रवृत्ति जिसने समाज शास्त्रियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया है यह है कि ग्राम का दरिद्र न्यायालय जाना ही नहीं चाहता है। इस अनिच्छा का कारण है कि मुकदमों की प्रक्रिया इतनी खर्चीली, इतनी औपचारिक, इतनी तकनीकी और देर लगाने वाली है कि रोज रोटी कमाने वाला व्यक्ति इस विलासिता को गवारा नहीं कर सकता है। दूसरा विनष्टकारी कारण जो प्रकट हुआ है कि कानून का लाभ पाने वाला व्यक्ति और वह व्यक्ति जिससे लाभ छीना जाने वाला है, इतने असमान हैं कि भारतीय न्यायपालिका की वर्गगत संरचना के कारण निर्बल वर्ग के व्यक्तियों की हार मिलती ही है। इन दो बड़े बलशाली कारणों का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि ग्रामीण निर्धन व्यक्ति कानून द्वारा प्रदत्त लाभों को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। इन परिस्थितियों में विधि का अधिनियम केवल कागजी घुड़दौड़ रह जाती है या यह क्रूर मजाक सिद्ध होती है।

यहां तक कि जब न्याय के उपभोक्ता के द्वार पर अत्यन्त अनौपचारिक पीठ की रचना की जाती है तब भी यह डर लगा रहता है कि यह स्वयं में ग्रामीण निर्धन व्यक्ति की न्यायालय जाने की आशंकाओं को निर्मूल कर सकेगा अथवा नहीं। यदि कोई व्यक्ति हानि उठाता है तो वह अपने प्रति किये गये अन्याय के विरुद्ध कोई पग उठाने की हिम्मत करता है। किन्तु जब यह किसी वर्ग विशेष के अधिकारों का हनन होता है तब तो दृश्य अत्यन्त पीड़ादायक होता है। संगठित मजदूरों ने अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रवृत्ति दिखाई है। इस रिपोर्ट का मुख्य विषय इस समय ग्राम्य निर्धन है जो साधारणतया असंगठित है और न्यायालय की शरण लेने में अक्षम है। क्या आयोग को इस वर्ग के अधिकारों के संपूर्ण हनन की उपेक्षा कर देनी चाहिए। क्या इसे तब तक के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिएं जब तक ये जागृत न हो जाएं और न्यायालय न पहुंच जाए? और जब तक यह न हो समाज हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहे और सामूहिक अधिकारों के इस प्रकार हनन से आंख मूंद ले?

आयोग का मत है कि समय आ गया है जब सामूहिक अधिकारों के हनन का निराकरण करने के लिए न्यायालय की अधिकारिता को विस्तृत करने के हेतु उपयुक्त मशीनरी प्रदान की जाए। समूह को संगठित किया जाए कि वह पीठ की सहायता ले। यदि समूह का संगठन विकेन्द्रित और छितराव होने के कारण नहीं किया जा सकता है तो संविधान के

भाग 4 के अधीन इसे राज्य का कर्तव्य माना जाना चाहिये कि एक प्राधिकरण नियुक्त करे जो गांवों में निरन्तर जाये और जैसे ही उसे व्यक्ति या समूह अधिकारों का पता लगे उनकी ओर से न्यायालय की शरण ले । अतः एक संपर्क अधिकारी की नियुक्ति की जानी आवश्यक है। जिसे प्रत्येक ग्राम न्यायालय से संबद्ध कर वहां भेजा जाए जो ग्राम न्यायालय का ही एक अंग होगा।

संपर्क अधिकारी का यह प्राथमिक कर्तव्य होगा कि वह अपने अधिकारिता के अन्तर्गत ग्रामों की निरन्तर यात्रा करे, समाज के निचले वर्ग से संबंधित व्यक्तियों से सम्पर्क करे, लोगों से यह पूछताछ कर सुनिश्चित करे कि जो भी कानूनों द्वारा प्रदत्त लाभ है उन्हें प्राप्त हो रहे हैं या नहीं, उसके ध्यान में आने वाले विधि उल्लंघनों के तथ्य एकत्रित करे और लोगों को इस बात के लिये प्रेरित करे कि वे ग्राम न्यायालय में जाकर इसका समाधान प्राप्त करें और उनके ऐसा न करने पर वह स्वयं याचिका उनकी ओर से दायर करे जो लाभ से वंचित है। एक कानूनी उपबंध होना चाहिये जिससे उसको सुने जाने के अधिकार के विरुद्ध उस पक्ष द्वारा कोई प्रश्न न उठाया जा सके जिसके विरुद्ध उसने याचिका दी है। यदि ऐसा विवाद ग्राम न्यायालय के समक्ष लाया जाता है तो न्यायालय को यह शक्ति होगी कि वह विशेषज्ञों से जानकारी प्राप्त करें, सरकारी विभागों से आलेख और गैर सरकारी समाज सेवी संस्थाओं से सहायता प्राप्त करे। ग्राम न्यायालय को यह अधिकार दिया जाना चाहिये कि इसकी अधिकारिता में स्थित संस्थाओं और संगठनों की सहायता प्राप्त कर सके जिससे ग्रामीण निर्धनों के लाभ और कल्याण कार्यों को पूरा किया जा सके। अतः विधि का ज्ञान रखने वाले संपर्क अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिये और प्रत्येक ग्राम न्यायालय से अधिकारी संबद्ध किया जाना चाहिये।

राज्य सरकार ग्रामीण निर्धनों के लाभ के लिये कल्याणकारी कार्यों को पूरा करने के हेतु प्रत्येक क्षेत्र को अशासकीय स्वयंसेवी संस्थाओं की एक सूची तैयार करेगी। इसमें यह सूचनायें होनी चाहिये—पदाधिकारियों के नाम, संगठन का उद्देश्य और कल्याणकारी कार्यों के लिये इसकी विशेषज्ञता प्रत्येक ग्राम न्यायालय को इसकी एक प्रतिलिपि दी जाएगी। जहां न्यायालय को यह स्वतंत्रता प्राप्त होगी कि यह उस संस्था के पदाधिकारी या अन्य कार्यकर्ताओं को न्यायिक कार्यवाहियां प्रारम्भ होने के पूर्व पक्षों में समझौता कराने में न्यायालय की सहायता करे। यह सूची साधारण न्यायाधीशों के चयन में भी सहायक होगी। यह सहभागिता की प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनायेगी।

अध्याय 7

निष्कर्ष

निष्कर्ष।

7.1 न्यायिक सुधार का कार्य हमें सौंपते समय विधि और न्याय मंत्री ने हमें सूचित किया था कि :—

> "विचारण और अपीलीय न्यायालयों में देर और बकाया की समस्या ने, वर्षों से गंभीर रूप धारण कर लिया है। देश के विभिन्न न्यायालयों में लम्बित वादों की संख्या अत्यधिक हो गई है। न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि न्यायालयों में बकायों के बढ़ते अम्बार को रोकने में सफल नहीं हुई। भूतकाल में अनेक संगठनों द्वारा की गई संस्तुतियां, जैसे विधि आयोग और उच्च न्यायालयों में बकाया समिति (जिसकी अध्यक्षता भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति जे० सी० शाह ने की थी) न्यायालयों की प्रक्रियाओं की कठोरताओं और दोष सूत्रता से पूर्ण होने के कारण समस्या का प्रभावकारी निदान प्रदान करने में असफल रहा। यह परीक्षण करने के लिये एक नया प्रयास आवश्यक था कि किस सीमा तक विकेन्द्रीकरण और अन्य परिवर्तन न्यायालयों की संरचना और कार्य प्रणाली में लायी जाय और कौन से आधार भूत परिवर्तन संरचना और प्रक्रिया में किये जाने चाहिये जिससे न्यायालयों के समक्ष सभी श्रेणियों के लम्बित वादों में देर की समस्या समाप्त की जा सके।"

वास्तव में उन्होंने बहुत पूर्व सन् 1959 में ही राज्य सभा की एक चर्चा में कहा था :

> "इसमें कोई संदेह नहीं है कि न्याय प्रणाली जो आज लागू है सामान्य व्यक्ति के लिये अत्यन्त खर्चीली है। छोटे विवाद आवश्यक रूप से अनिवार्यतः पंचायत न्याय प्रणाली द्वारा—जिसे जन न्यायालय भी कहा जा सकता है, जिसे लोक प्रिय न्यायालय —या कोई भी नाम दिया जा सकता है—द्वारा किया जाना चाहिये किन्तु इसमें निश्चित रूप से ऐसे सुरक्षात्मक उपाय किये जाने चाहिये—जिनके माध्यम से ग्राम स्तर के साधारण विवादों में न्याय प्रशासन प्रणाली ऐसी हो जिससे सामान्य जन को यह आश्वासन मिल सके कि यह उसके लिये बहुत खर्चीली और उसके लिए देर करने वाली भी नहीं होगी।"

इसके पश्चात् से तो स्थिति में बहुत अधिक बिगाड़ आया है।

विधि आयोग ने, किसी पूर्व धारण या पूर्वाग्रह से मुक्त होकर अभी तक अछूते क्षेत्रों में समाधान के नये और उपयोगी उपायों की खोज और जांच पड़ताल की। वह खोज अब पूरी हो गई। इसमें मौलिकता का दावा नहीं किया जा सकता है। समस्या के हल स्थायी टिकाऊपन वाले प्राचीन मूल्यों और उन नये मूल्यों के संश्लेषण लग सकते हैं जिन्हें न्याय-प्रणाली के क्षेत्रों में अधिष्ठित किया जाना आवश्यक है। बातें करने से, चर्चायें करने से, विचार विमर्श करने से और चर्चाओं को प्रेरित करने से हमें वर्तमान दुर्बलताओं को जानने में सहायता मिली है। अतः पीठ को रचना का सुझाव देने में इस बात की सावधानी रखी गई है कि वर्तमान दुर्बलताओं को इसे ग्रस्त करने के लिये प्रवेश द्वार न मिले। किसी एक प्रणाली की पुनर्रचना करने में इसका सुधार करते समय स्वीकार योग्य अंश को बनाये रखना और व्यर्थ के अंश को बहिष्कृत करना रहता है। हमारी दृष्टि यही थी और अब हम इस आशा से इसे समाप्त कर रहे हैं कि एक प्रारम्भ किया जाना चाहिये, आवश्यकता हो तो, एक प्रयोग के रूप में ही प्रत्येक राज्य के कुछ चयन किये हुये क्षेत्रों में ही संस्तुति की गई प्रणाली को अपनी उपादेयता सिद्ध करने का अवसर दिया जाना चाहिये। प्रारम्भ की अवस्था में ही इसको बहुत

ध्यान से देखा जाना चाहिये, जिससे क्रियान्वयन की प्रक्रिया में उत्पन्न होने वाले अवरोधों को दूर करने में सहायता प्राप्त हो सके। यदि आवश्यकता हुई तो विधि आयोग संशोधन करने, सुधार करने और पुनरीक्षण करने के लिये, जिससे यह प्रणाली उन लोगों की सेवा करने में जिनके लिये इसकी रचना की गई है, प्रभावशाली सिद्ध हो सके।

(डी० ए० देसाई)
अध्यक्ष

(क० एस० रामा देवी)
सदस्य-सचिव
नई दिल्ली, दिनांक 12 अगस्त, 1986

परिशिष्ट–1

–भारत का विधि आयोग–

विवादों को मूल स्थान

पर

निपटाने हेतु वैकल्पिक पीठ के

लिए

आधार पत्र

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	परिचय	55
2.	न्याय प्रणाली की पुनर्संरचना की आवश्यकता	57
3.	ग्राम पंचायत	63
4.	ग्राम पंचायतों के सीध पीठ को अधीकार करने का प्रस्ताव	66

अध्याय 1

परिचय

उत्पत्ति ।

1.1 विधि आयोग के विचारणीय विषयों में से प्रथम विषय को उच्च प्राथमिकता दिये जाने योग्य है । प्रथम विषय अर्थात् "न्यायिक प्रशासन की प्रणाली का पुनर्विलोकन करना जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि समय की मांग के अनुसार यह उत्तरदायी है" ।

बहुत दिनों से मुकदमों के निपटान में देरी और परिणाम का सभी न्यायालयों में बढ़ती हुई मुकदमों की संख्या अनेक मंचों पर चर्चा का विषय रहा है और इसके लिये अनेक सुझाव जिसमें न्यायिक प्रशासन की प्रणाली में परिवर्तन का सुझाव भी सम्मिलित है, दिये गये हैं । विषय के महत्व को देखते हुये और न्यायिक प्रशासन की आवश्यकता को देखते हुये विधि आयोग ने यह निश्चित किया है कि इस विषय के सभी पक्षों पर स्वयं प्रेरणा से विचार किया जाय और रिपोर्ट दी जाय ।

विधि आयोग और अन्य समितियों की पूर्व रिपोर्ट ।

1.2 भूतकाल में अनेक आयोगों द्वारा किये गये कई प्रयासों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष को ध्यान में रखकर जिनमें विस्तृत, सुविचारित और मूल्यवान सुझाव न्याय प्रणाली को पुनर्गठित करने के लिये दिये गये हैं, जिससे यह प्रभावकारी, सस्ती, द्रुतगामी और जनोन्मुख हो सके, आयोग का ध्यान पूर्व रिपोर्टों चौदहवीं, सत्ताइसवीं और सत्हरवां की ओर आकर्षित किया गया था ।

विधि आयोग की चौदहवीं रिपोर्ट ।

1.3 चौदहवीं रिपोर्ट में न्याय प्रशासन के सुधार के प्रश्न की विस्तार पूर्वक चर्चा की गई थी । इसने इस बात पर ध्यान दिया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् के काल में देश की विधि और न्याय प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन की शक्तिशाली मांग की गई[1] । इस शक्तिशाली मांग के उत्तर में ही प्रथम विधि आयोग की 1955 में स्थापना की गई । विधि आयोग के कार्यों को सुनिर्दिष्ट व्याख्या करने वाले प्रस्ताव द्वारा अन्य बातों के अतिरिक्त न्याय को सरल, गतिमान, सस्ता, प्रभावशाली और सारवान बनाने के उपाय ढूंढने का कार्य सौंपा गया[2] । साम्राज्य निर्माताओं द्वारा दी जाने वाली न्याय प्रणाली भारतीय परिस्थितियों के लिये अनुपयुक्त और भारत की भूमि में विदेश से लाकर प्रतिरोपण जैसा है जैसा[3] इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये यह पता लगाने का प्रयास किया गया कि क्या इस देश में भी कोई स्वदेशी न्याय प्रणाली थी । चौदहवीं रिपोर्ट में आयोग ने कहा "वर्तमान न्याय प्रणाली को सुधारने के लिये साधनों का सुझाव देने में, यह हमें इस बात से विरत नहीं करता है कि हम उन परिवर्तनकारी और क्रांतिकारी उपायों का विचार न करें जो इसे (न्याय प्रणाली को) हमारी आवश्यकताओं के अधिक अनुकूल बनावें । विधि आयोग ने अपनी राय दी कि सुधार करने के उपाय वर्तमान प्रणाली का परित्याग या इसे किसी अन्य प्रणाली द्वारा प्रतिस्थापना करने में नहीं है । वर्तमान प्रणाली में पाये जाने वाले दोषों को दूर करने और वर्तमानकाल तथा भविष्य काल की आवश्यकताओं के अधिक अनुरूप बनाने में ही वास्तविक उपचार हैं[4] । तदनुसार ही, यह आलोचना कि उस समय प्रचलित देश की न्याय प्रणाली (1955—56) देश की मानसिकता के अनुकूल नहीं है, तत्व पर आधारित न होने के कारण मान्य नहीं की गई । इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद कि प्रणाली को उपचारों की आवश्यकता है न कि इसके स्थान पर कुछ अंशों में ही सही, दूसरी प्रतिस्थापित किये जाने की । समय की आवश्यकता के अधिक अनुकूल बनाने

1. भारत का विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट, भाग 1, अध्याय 2, अनु. 12 ।
2. लोक सभा डिबेट्स, भाग 3, अंक 2, 1954, पृष्ठ 1860-61 ।
3. भारत का विधि आयोग, 77वीं रिपोर्ट, अनुच्छेद 3.1, पृष्ठ 7 ।
4. भारत का विधि आयोग, 14वीं रिपोर्ट, अध्याय 4, अनुच्छेद 20, पृष्ठ 31 ।

के लिये क्रांतिकारी पग उठाने की बात स्वीकार करते हुये आयोग ने कतिपय परिवर्तनों की संस्तुति की थी।

विधि आयोग की तह तरक्की रिपोर्ट

1.4 यह प्रयास फिर से 1978 में किया गया। आयोग ने इस आलोचना की ओर ध्यान दिया कि न्यायिक प्रशासन की वर्तमान प्रणाली देश की जनता की मानसिकता के अनुकूल नहीं है। यह इस विचार भूमि पर आधारित है कि हमारा समाज मूलतः समतावादी समाज नहीं है और यह हमारे न्यायालयों द्वारा पालन किये जाने वाली तकनीकी और भारी भरकम प्रक्रिया को समझ सकने में अक्षम है[1]। निष्कर्ष यह था कि वर्तमान प्रणाली किसी एक दिन की उपज नहीं थी और यह पक्षपातपूर्ण होगा यदि हम न्याय प्रणाली के आदिम ढंग को अपना कर विवादों को साधारण अनभिज्ञ लोगों को सौंप दें जो जीवन की वर्तमान जटिलताओं से अपरिचित हों और विधिक धारणाओं और प्रणाली से भी परिचित न हों।" इससे इस बात का आभास होता है कि वर्तमान प्रणाली के प्रति अब भी आदर छिपा है और यह भी बलवती इच्छा और आशा है कि वास्तविक आवश्यकता वर्तमान प्रणाली को हमारी राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ में वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार इसे और अधिक सुधारा जाना चाहिये न कि इसके स्थान पर बहुत काल पूर्व अपूर्ण और अपर्याप्त समझ कर परित्यक्त कर दी गई प्रणाली को लाया जाय[2]। फिर भी उस समय एक ऐसा वर्ग था जिस की विपरीत राय थी। उन्होंने निश्चित रूप से यह अनुभव किया कि हमारे देश में न्याय प्रशासन को ब्रिटिश प्रणाली केवल अच्छी ही नहीं रही है..... इसने मूल स्तर पर जन को इस प्रणाली से ही विलग कर दिया है, क्योंकि इसका मूल विदेशी था, यह तकनीकी और इसमें अति की सीमा तक औपचारिकता थी, इसमें प्रक्रिया के नियम कठोर थे, यह सुसंगत नहीं थी और विदेशी भाषा में थी। यह ग्राम स्तर कि बठुना तालुका स्तर और कस्बों में भी विदेशी प्रणाली ही रह गई थी जिसका जन समूह से कोई जीवन्त संबंध नहीं था और उनके लिये अर्थहीन थी[3]।

1. विधि आयोग—77वीं रिपोर्ट, अध्याय-3, अनुच्छेद 33, पृष्ठ 7।
2. विधि आयोग—77वीं, रिपोर्ट, अध्याय 3, अनुच्छेद 3.20 पृष्ठ 10।
3. सीक्स एट कमेटी (विधिक सहायता समिति गुजरात सरकार) की रिपोर्ट 1971, अनुच्छेद 13.12, पृ० 209।

अध्याय 2

न्याय प्रणाली की पुनः संरचना की आवश्यकता

भारत में विदेशी प्रणाली लागू करने के कारण।

2.1 यह नहीं भूलना चाहिये कि ब्रिटिश साम्राज्य के लिये औपनिवेशिक स्वामियों ने अपने देश में प्रचलित न्याय प्रणाली को भारत में भी लागू किया। कोई भी व्यक्ति साम्राज्यों की स्थापना परोपकारिता के उद्देश्य से नहीं करता है। यदि परोपकार अपने घर से प्रारम्भ होता है तो साम्राज्यवाद दूसरे के घर से प्रारम्भ होता है। अन्य प्रेरकों के अतिरिक्त साम्राज्यों की स्थापना के केन्द्र में होता है, उपनिवेशों का आर्थिक शोषण जिससे शासक-स्वामियों में विशिष्ट जनों का जीवन स्तर उच्चतम रहना सुनिश्चित रहे। आर्थिक शोषण के लिये आवश्यक है कि आंतरिक शांति और बाह्य सुरक्षा बनी रहे। आंतरिक शांति की गारंटी विदेशी सेना, स्वामीभक्त पुलिस और ऐसी न्याय प्रणाली पर निर्भर होती है जो पक्षकारों को निरन्तर न्यायालयों में जिनमें अपील न्यायालयों की पूरी शृंखला हो, मुकदमें बाजी में उलझाये रखे, जिससे भारत का अशिक्षित जो अन्याय का शिकार हो न्यायालयों की भूलभुलैया में भटकता रहे और इस तरह हताश होकर विवादों को शक्ति के आधार पर न सुलझा सकने से पूर्ण रूप से अक्षम हो जाये, उसके अपने अधिकारों के प्रति जोर देने की सारी शक्ति और शारीरिक चेतना समाप्त हो जाये तथा मुकदमों के खर्चे देते-देते आर्थिक क्षमता और राजनैतिक इच्छायें भी मुकदमें की प्रक्रियाओं में ही समाप्त हो जायें। जर्नलीस वि० जर्नडीस (चार्ल्स डिकेन्सी) न्याय प्राप्त करने वालों के लिये एक आदर्श है। यदि अन्याय की शिकायत करने वाले न्यायालयों का चक्कर लगाते रहते हैं तो वे विधि और व्यवस्था में व्यवधान नहीं डालते हैं, शांति बनाये रखते हैं और आर्थिक शोषण होने देते हैं और ऐसे ठगे गये लोग, विश्वास करने वाले और लाभ उठाने वाले "हिताधिकारी" (विधि व्यवसायी) लोग ब्रिटिश न्याय प्रणाली को सुमनांजलि समर्पित करते रहते हैं।

भूतकाल में आधारभूत परिवर्तनों को मुखरित नहीं किया गया।

2.2 कुछ सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों की प्रणाली के प्रति आदरभाव ने इसकी पुनर्रचना के प्रत्येक प्रयत्न को अवरुद्ध कर दिया है। 1958 और 1978 में सभी के द्वारा यह स्वीकार किये जाने पर भी कि यह प्रणाली अतिपूर्ण हो चुकी है देर करने वाली है, खर्चीली है और अन्याय से पूर्ण है, आधार भूत परिवर्तन करने की इच्छा प्रकट नहीं हो सकी। बीच-बीच में यह प्रयत्न होते रहे कि कुछ सुधारों को लाकर इससे पुनर्यौवन की प्राप्ति करायी जाय जिससे न्याय पाने में समय कम लगे, बकाया मुकदमों की संख्या में कमी आवे, इसमें कम खर्च हो। यह सारा इस लिये किया जा रहा था कि इसके विरुद्ध आलोचना किसी सीमा तक कम हो जाये।

पूर्व प्रयासों की असफलता।

2.3 हम प्रश्न पूछते हैं: क्या इन प्रयासों ने परिणाम दिये हैं? इसका उत्तर है नहीं। विभिन्न उच्च न्यायालयों में बढ़ती हुई मुकदमों (1237566 मुकदमें उच्च न्यायालयों में 31 दिसम्बर, 1984 को लंबित थे) का बकाया[1] और भारत के उच्चतम न्यायालय में बकाया मुकदमों की ऊपर जाती ग्राफ रेखा इस बात को निर्विवाद रूप से स्थापित करेगी कि यह सारे किनारों को छूने के प्रयासों ने वांछित परिणाम नहीं दिये हैं, वास्तव में इनसे स्थिति और भी भयंकर हो गयी है। 1955 में विधि आयोग की स्थापना से लेकर आज तक न्याय पाने वाले न्याय के उपभोक्ता बड़े धैर्य से इस न्याय प्रणाली की पुनर्रचना की प्रतीक्षा करते रहे हैं, जिससे यह न्यायपूर्ण और जनोन्मुख हो सके।

आधार स्तर पर पुनर्रचना के लिए आधार पत्र।

2.4 यह कार्य विशद कार्य है और इसे भागों में सुलझाया जाना चाहिए। यह प्रस्ताव है कि ग्राम स्तर पर ही विवादों के निपटारे के मामले में आमूल पुनर्रचना के बारे में ही विचार किया जाए।

1. यह सूचना उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों, राज्यों के मुख्य मंत्रियों और विधि मंत्रियों के सितम्बर 1985 में सम्पन्न सम्मेलन में दी गई थी।

ग्रामीण बहुमत ।

2.5 भारत गांवों में ही बसता है। 80 प्रतिशत जनसंख्या जिसे ग्रामीण क्षेत्र कहा जाता है, वहीं निवास करती है। सात लाख ग्राम इस 80 प्रतिशत जनसंख्या को निवास प्रदान करते हैं।

सिविल प्रक्रिया संहिता के दुरुह उपबन्ध ग्रामीण विवादों के निपटारे के लिये उपयुक्त नहीं है ।

2.6 इन ग्रामों में उत्पन्न होने वाले विवादों का एक स्थानीय ग्रामीण रंग ही होता है। यह विडम्बना पूर्ण है कि इन विवादों को एक समान प्रक्रिया से निपटाया जाता है, चाहे वह छोटा सा गांव हो अथवा बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली आदि कैसा महानगर का विवाद हो। एक ओर ऐसे विवाद जिनमें करोड़ों रुपयों का प्रश्न हो, जिनमें जटिल कानून और दूरगामी महत्व के संवैधानिक प्रश्न उठाये गये हों और दूसरी ओर छोटी काश्त पर कब्जा, खेत तक जाने के रास्ते, सिंचाई की नाली की स्थिति तथा कृषि भूमि में अंश के छोटे-छोटे विवाद सभी उसी सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विहित दुरुह प्रक्रिया द्वारा (समय-समय पर संशोधित) निपटाये जाते हैं। क्या यह विडम्बना पूर्ण नहीं है? क्या इस परिवर्तन की आवश्यकता है? सारवान विधि में सुधार को कुछ काल के लिए स्थगित रखना चाहिए क्योंकि प्रो० माइकेल जन्डर के अनुसार "विधि सुधारों में जो वस्तु महत्वपूर्ण है वह है कम खर्चीला होना, सहज प्राप्त होना और विधि प्रक्रिया का शीघ्र समाप्त होना, सारवान विधि का महत्व प्रक्रिया संबंधी विधि से कम महत्वपूर्ण है[1]। यह आधार पत्र ग्रामों में विवादों के निपटारे के लिए मशीन की पुनर्रचना का सुझाव का प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है – वे विवाद जो ग्रामों और अर्ध शहरी क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं।

तालुका और तहसील न्यायालयों में विवादों की प्रकृति ।

2.7 तहसील/तालुका न्यायालयों, जिन्हें अनेक नामों, मुन्सिफ न्यायालय, जिला मुंसिफ सिविल न्यायालय (कनिष्ठ विभाग) आदि, से पुकारा जाता है, में दायर किये जाने वाले मुकदमों का साधारण परीक्षण करने से पता चलता है कि निम्न श्रेणी की प्रकृति के विवाद दायर होते हैं।

1– सिविल विवाद :

कृषि संबंधी सुधारों तथा संबद्ध कानूनों के क्रियान्वयन से उत्पन्न विवाद—

(1) काश्तकारियां – संरक्षित और प्रच्छन्न और विवादास्पद,
(2) हद बंदी तथा अन्य अतिक्रमण,
(3) क्रय करने का अधिकार,
(4) सार्वजनिक चारागाह का प्रयोग,
(5) भू-राजस्व अभिलेखों में प्रविष्टियां,
(6) सिंचाई के लिए नालियों से पानी लेने का क्रम और समय,
(7) सुखाचार के विवाद,

2– संपत्ति विषयक विवाद:

(1) ग्राम और खेतों के घर (कब्जा),
(2) सेहन,
(3) सुखाचार–आदमियों, जानवरों और बैलगाड़ियों को खेत और घर जाने के मार्ग का अधिकार,
(4) सिंचाई की नाली,
(5) कुएं अथवा ट्यूब वेल से पानी लेने का अधिकार,

3– पारिवारिक विवाद:

(1) विवाद
(2) विवाह विच्छेद

1. लार्ड स्कारमेन: रिफार्मस इन अ डिमाक्रेटिक सोसाइटी 1985, पृष्ठ 31 में यथा उद्धृत।

(3) संतानों की अभिरक्षा
(4) संपत्तियों की उत्तराधिकार और उत्तराधिकार अंश
(5) भरण पोषण

विवादों में दाव अनुपात से अधिक, का अनुतोष ।

2.8 यदि उपर्युक्त किसी एक शीर्षक के अधीन आने वाले प्रत्येक विवाद में सम्मिलित दाव पर लगी वस्तु का मूल्यांकन लागत और लाभ के विश्लेषण के आधार पर किया जाता है तो यह दावा किये गये अनुतोष के अनुपात में मूल्यवान नहीं लग सकता है। किन्तु इनका महत्व अत्यधिक होता है। इस प्रकार के विवाद इस समय पहले निचले स्तर के न्यायालयों में अर्थात मुंसिफ/सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) या भू-राजस्व अधिकारी के समक्ष लाये जाते हैं। इनमें सिविल प्रक्रिया संहिता में विहित प्रक्रिया का पालन किया जाता है या भू-राजस्व अधिकारिता के अधीन आने वाले मामलों को उस प्रकार के विवादों के लिए बनाई गई प्रक्रिया संहिता के अनुसार निपटाया जाता है। सिविल प्रक्रिया संहिता को सभी स्वीकार कर चुके हैं कि वह अत्यन्त औपचारिक, अत्यधिक तकनीकी, देर करने वाली, समय खर्च करने वाली और अति विस्तृत है। अधिकांश अवसरों पर प्रक्रिया संबंधी विवाद, वास्तविक विवाद के हल को पीछे ढकेल देते हैं और उसे गौड बना देते हैं। कोई व्यक्ति 1971 तक उच्चतम न्यायालय द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन अनेक विषयों पर जो केवल प्रक्रिया संबंधी हैं, जैसे अभिवचन का संशोधन प्रारम्भिक विवादकों की विरचना करने, अंतिम निषेधाज्ञा, विवादकों की विरचना आदि विषयों पर दिये गये 1576 निर्णयों को कैसे उचित बता सकता है। उपर्युक्त विवादों में कुछ विवाद सरल हैं और पूर्णतः दुरुह नहीं हैं और उनका निपटारा कुछ घन्टों में ही हो सकता है विशेषकर यदि स्थान पर जाकर निपटारा किया जाय। विरोधात्मक प्रणाली में विवादों को स्थान पर ही उपस्थित होकर निपटाना सामान्यतया अच्छा नहीं लगता है। न्यायाधीश को किसी निश्चित स्थान पर बैठना चाहिए जहां पक्षकार, वकीलों, साक्षियों और कागजात के साथ पहुंचे और न्यायाधीश दोनों पक्षों को सुनकर सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन विहित सभी प्रक्रियाओं और औपचारिकताओं को अनेक स्तरों पर पालन करने के पश्चात आराम से विवादों में निर्णय दे। वर्ष 1954 में इस प्रकार के मामलों में असम में औसत 369.8 दिन लगते थे और बिहार में 762.6 दिन[1]। मौलिक सिविल वादों की कुल संख्या 1954 में 6,12,635 थी[2]। अधीनस्थ न्यायालयों में 31 दिसम्बर, 1977 को लम्बित वादों और विविध मामलों की संख्या 21,09,986 थी[3]। अब औसत तीन वर्ष से अधिक समय लगता है। 1954 और 1977 के बीच विधि आयोग ने तीन रिपोर्ट प्रस्तुत कीं जिनमें वादों के निपटान में देरी कम करने के लिये सिविल प्रक्रिया संहिता में परिवर्तन करने की संस्तुतियां दी गयी थी। ऊपर दिये गये समस्त आंकड़े अपनी कहानी स्वयं कहते हैं और सभी में निरन्तर सिविल प्रक्रिया संहिता में आमूल परिवर्तन करने का सुझाव दिया गया है। विधि आयोग ने अपनी सत्ताइसवीं रिपोर्ट में सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधन और उपान्तरण की संस्तुति करने में अत्यन्त सावधानीपूर्वक मार्ग अपनाया था[4]। इस प्रस्ताव को आमूल परिवर्तन करने के प्रस्ताव द्वारा प्रस्थापित कर दिया गया। इसमें प्रक्रिया को कम करने और समय की आवश्यकता के अनुसार मौलिक परिवर्तन करने की बात नहीं कही गई थी। वरन यह सारी मेहनत इसलिए की गयी थी कि न्याय के उपभोक्ताओं को उस लागत पर न्याय मिले जो वे दे सकते हों। यह स्वीकार किया गया कि "खर्चीली प्रक्रिया प्रणाली स्वयं को ही असफल करने वाला न्याय का औजार है"[5]। 54वीं रिपोर्ट ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 में अनेक संशोधनों की संस्तुति की थी। इसी के आधार पर सिविल प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम, 1976 अधिनियमित हुआ। तत्कालीन वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंधों में अनेक परिवर्तन किये गये और 54वीं रिपोर्ट की संस्तुतियों पर आधारित

वर्तमान विरोधात्मक प्रणाली के दोष ।

सिविल प्रक्रिया संहिता में संशोधन का परिणाम । वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति में असफलता।

1. भारत का विधि आयोग 14वीं रिपोर्ट भाग 1, अध्याय 11, अनुच्छेद 7 पृष्ठ 261 ।
2. वही अनुच्छेद 3, पृष्ठ 253 ।
3. भारत का विधि आयोग, सातवीं रिपोर्ट, पृष्ठ 69 ।
4. भारत का विधि आयोग, 54वीं रिपोर्ट, अनुच्छेद 1.5, पृष्ठ 2 ।
5. देखें पृष्ठ 2 ।

नये उपबंध जोड़ गए। कुछ धाराओं को छोड़कर संशोधन अधिनियम 1 फरवरी, 1977 को लागू किया गया। तदनुसार विस्तृत रूप से संशोधित सिविल प्रक्रिया संहिता, जिसका उद्देश्य वादों के निपटारे में समय की कम खर्च, प्रणाली को गतिमान, प्रभावी और कम खर्च बनाना, गत आठ वर्षों से लागू है। यह सभी के द्वारा स्वीकार किया जाता है विवादों के निपटारे के ढंग, प्रणाली और पद्धति पर कोई प्रभावशाली संघात छोड़ने की बजाय यह विपरीत उत्पादक सिद्ध हुआ है[1]। नागरिकों की बहुसंख्या पर न्याय प्रणाली का जो शक्तिशाली संघात होता है उसे[2] ध्यान में रखा जाना चाहिए जिससे इसे उचित रूप से समझा जा सके कि प्रणाली में सुधार अत्यधिक महत्व की बात है, यह केवल वकीलों और न्यायाधीशों के लिए ही नहीं वरन राज्य और औसत नागरिकों के लिए भी है[3]। अतः अभी तक प्राप्त वरीयता को उलट दिया जाना होगा और सही निष्कर्ष साधारण सामान्य नागरिक को न्याय के उपभोक्ता को प्राप्त लाभ या हानि होना चाहिए। यह कठोर निर्णय कि बहुता इस प्रयास की कुस्वाद उपज केवल संरचनात्मक ढांचे को बनाये रखने या सिविल प्रक्रिया संहिता को अछूता रख कर और केवल विभिन्न स्थानों पर छेड़छाड़ करने से प्रणाली को गतिशील, प्रभावी या समय की आवश्यकताओं के प्रति उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता है। अतः अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि इसके पूर्व कि यह प्रणाली अपने भार से दब न जाये और विवादों के समाधान के लिए पीठ, पद्धति और ढंग में आधारभूत संरचनात्मक परिवर्तन किये जायें।

निदेशक सिद्धान्तों के प्रकाश में समस्या का परीक्षण प्रणाली का पुनर्नवीकरण आवश्यक।

2.9 समस्या को न्यायालीय प्रबन्ध की दृष्टि से देखना बुद्धिमानी नहीं होगी। दूसरे शब्दों में मामले को न्यायालयों में निरन्तर वृद्धिगत कार्यसूची के पक्ष पर ही विचार करना अत्यन्त गलत होगा। इस प्रकार के प्रयासों को भारत के संविधान में घोषित आकांक्षाओं से मार्ग दर्शन प्राप्त करना चाहिए। भारत के संविधान का अनुच्छेद 39क निर्देश देता है कि राज्य यह सुनिश्चित करे कि विधि व्यवस्था इस प्रकार काम करे कि न्याय समान अवसर के आधार पर सुलभ हो और वह विशिष्ट या वह सुनिश्चित करने के लिए कि अधिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय पाने के अधिकार से वंचित न रह जाये। उपर्युक्त विधान यह स्कीम द्वारा या अन्य किसी रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा यह संवैधानिक आज्ञा है। आर्थिक या अन्य निरोग्यता के आधार पर कि जिसका संक्षिप्त उल्लेख किया गया है, न्याय से वंचित रह जाना समस्यात्मक है। संविधान हमें अब आज्ञा देता है कि न्याय प्राप्त करने में बाधाओं को क्रमबद्ध रूप से हटाया जाये। अनुच्छेद 40 को जो राज्य को ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए पग उठाये जाने तथा उन्हें ऐसी शक्ति और अधिकार प्रदान किये जाने का निर्देश देता है। जो उन्हें स्वायत्त शासन की एक इकाई के रूप में कार्य करने की योग्य बनावे, नये अनुच्छेद 39क में दी आज्ञा के प्रकाश में फिर से नये सिरे से देखा जाना चाहिए।

अनुच्छेद 39क के परिणामस्वरूप न्याय-लय प्रणाली पर भार की बजाये नागरिकों को न्याय से वंचित किये जाने पर बल।

2.10 अनुच्छेद 39क द्वारा परिकल्पित न्याय तक पहुंच मार्ग को विकसित कैसे किया जाये। अभी तक जैसा हम न्याय पंचायतों के संगठन पर अपनी चर्चा में जल्द ही देखेंगे, मुख्य विचारणीय विषय न्यायालय प्रणाली के भार को हल्का करने जा रहा है। किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य निरोग्यता के कारण न्याय से वंचित न रहने पर जोर नहीं दिया गया था। अब अनुच्छेद 39क की आज्ञा है कि इन निरोग्यताओं पर ध्यान दिया जाये और उनके निवारण की स्कीम विकसित की जाये। विवादों के समाधान के लिए स्थानीय पीठ की सृष्टि कर न्यायालय प्रणाली के भार को हल्का करने के लिए प्रबन्धकीय विचार अब आगे नहीं रह सकते हैं।

1. देखें पृष्ठ 2 अनुच्छेद 1.6।

2. ग्राम स्तर से ही उत्पन्न सिविल वादों को निपटारे में प्राप्त विशद अनुभव वाले न्यायाधीशों ने अपना अनुभव विफाशिशों को करने में खर्च किया और इस बोध ने सिविल प्रक्रिया संहिता में विस्तृत संशोधनों को करने में सहायक हुआ। सुझाये गये संशोधन सामान्य रूप से स्वीकार किये गये किन्तु क्रियान्वयन के फलस्वरूप उन में प्रतिफल अत्यन्त ही अवांछनीय हुआ जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

3. भारत का विधि आयोग—14वीं रिपोर्ट अध्याय 3, अनुच्छेद 1, पृष्ठ 17।

भारतीय विधिक प्रणाली की निरोग्यताएं।

2.11 अनुच्छेद 39क में आर्थिक निरोग्यताओं से भिन्न अन्य उल्लिखित निरोग्यतायें हैं :— भारतीय विधिक प्रणाली की वर्तमान पार्श्व चित्र के द्वारा उत्पन्न कठिनाइयां। यह प्रणाली, जैसा पहले इंगित किया गया है, न्याय को खोज में लगे व्यक्ति पर अपने आप निरोग्यता लाद देती है। यह निरोग्यताएं विवादों को ग्रहण करने के लिये उपयुक्त पीठ के अभाव के कारण और व्यावसायिक न्याय पर बल दिये जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। संविधान द्वारा अब परिकल्पित प्रणाली के पुनर्नवीकरण के लिये आवश्यक है कि ये निरोग्यतायें दूर की जायें। व्यावसायिक आदर्श की न्याय प्रणाली भारत में नहीं लागू हो सकती है, इसलिये नहीं कि भारत में केवल 2,50,000 वकील हैं वरन इसलिये भी कि उनमें अधिकांश शहरों के निवासी हैं और व्यवसाय की स्वैच्छिक प्रकृति होने के कारण इस अवस्था में यह संभव नहीं है कि कानून के द्वारा उन्हें इस ढंग से पर्याप्त और सामान्य रूप से बिखेरने की योजना बनाई जाये कि वे भारतीय जनता की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। कम से कम ऐसे किसी उपाय का प्रस्ताव और चर्चा तो होनी नहीं ही चाहिये। इस समय के लिये हम उस यथार्थ को जैसा है, स्वीकार करते हैं।

वैकल्पिक प्रणाली।

2.12 यदि न्यायिक प्रक्रिया का यह व्यावसायिक आदर्श भारतीय जनसमुदाय की विधिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में नहीं लाया जा सकता है जो यह आवश्यक है कि विकल्प के बारे में विचार करे। इस प्रकार के आदर्श में व्यक्तियों की आन्तरिक न्याय क्षमता, जिसमें, उनकी स्वयं की न्याय बुद्धि सम्मिलित है, को विकसित करने का अवसर दिया गया है, यह व्यक्तियों को न्याय में सहभागिता के द्वारा किये जाने का विचार है।

पुनर्रचना का प्रारम्भ से शून्य स्तर से।

2.13 किसी भी पिरामिडीय रचना के लिये शक्तिशाली नींव की आवश्यकता है। अतः पुनर्रचना नीचे से ही प्रारम्भ होनी चाहिये और फिर ऊपर जाना चाहिये। वर्तमान न्याय प्रणाली की रचना श्रेणीबद्ध है। सबसे निचले तल पर मूल स्थान के न्यायालय जो मुन्सिफ/जिला मुन्सिफ सिविल न्यायाधीश (कनिष्ठ विभाग) के न्यायालय कहे जाते हैं। वादकारी प्रारम्भ में इन मूल स्तरीय न्यायालयों के सीधे सम्पर्क में आये हैं। न्याय प्रणाली का इस स्तर पर दृश्य ही सारी प्रणाली के साधारण मूल्यांकन को रूपांकित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे विवाद इन न्यायालयों में जल्द और प्रभावकारी समाधान प्राप्त करने के लिये लाये जाते हैं। यदि इसी प्रकार के छोटे-छोटे विवादों को निपटाने के लिये नया ढंग और पद्धति निर्मित होती है तो इससे 75 प्रतिशत वादों का निपटारा, जल्द, प्रभावकारी ढंग और कम खर्च और सरल ढंग से हो जायेगा। इसका जनसमूह पर प्रभाव होगा। यदि मूल स्तर के न्यायालयों में लाये गये विवादों का कम औपचारिक या अनौपचारिक, गतिशील प्रक्रिया से और स्थान पर ही लोगों की सहभागिता से निपटारा हो जाये तो अपील के लिये आने वाली संख्या स्वयं ही घट जायेगी। इस प्रकार के पीठ की रूपरेखा प्रस्तुत करने में जिसमें कम औपचारिक प्रक्रिया हो इस बात में सावधानी बरती जानी चाहिये कि ग्रामीण जनों की आस्था न्यायालय प्रणाली में बनी रहे। इस प्रकार की प्रणाली की रचना करने में यह प्रयास किया जाना चाहिये कि सभी सर्वोत्कृष्ट स्रोत सम्मिलित हों। प्रत्येक विवाद के हल में यह आवश्यक नहीं होता है कि उसमें तकनीकी और सारवान विधि के विशेषज्ञ ही उपस्थित हों। स्थान विशेष में उत्पन्न विवादों का समाधान स्थानीय साधारण व्यक्तियों द्वारा किया जाना यह प्रायः पूरे विश्व में मान्यताप्राप्त है। इस कथन को पुष्टि करने के लिये दुनिया भर में ऐसे संस्थान देखे जा सकते हैं।[1] इंगलैंड और यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में जस्टिस आफ पीस, रूप में पीपुल्स कोर्ट और कुछ छोटे परिवर्तनों के साथ प्रायः सभी पूर्वीय देशों में और साधारण न्यायाधीशों का संस्थान न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता ही प्रदर्शित करते हैं। युगोस्लाविया

1. यूनाइटेड किंगडम में जस्टिस आफ द पीस की संस्था जो दांडिक अधिकारिता की अधिकांश और सिविल अधिकारिता के छोटे से अंश जो महत्वपूर्ण हैं का कार्य देखती हैं सभी विदेशियों के लिये आश्चर्य का विषय है क्योंकि इस तरह की कोई संस्था संसार के किसी भी भाग में नहीं है कुछ अपवादों को छोड़कर यह संस्था बहुत ही संतोषजनक रूप से कार्य करती रही है और पर्याप्त सस्ती भी है। हैमलिन लेक्चर्स, पांचवां सिरीज, 1953, पृष्ठ 178।

साधारण अधिकरणों की स्थापना की दिशा में कार्य कर रहा है यह हमारी पंचायतों के संबंध में विचारधारा पर कमोबेश आधारित है[1]। ऐसा ही अनुपम अनुभव सिस्टम आफ पुलस को लेकर हंगरी का है[2]। विधिक निर्णयों में साधारण जन की सहभागिता का प्रकटीकरण सदियों पूर्व हुआ था और उसका प्रारम्भ तीसरे पक्ष के साथ आने से हुआ था, जिसने स्वयं निर्णय या खूनी युद्ध के पश्चात् अपना प्रभुत्व स्थापित किया[3]। विवादास्पद प्रश्नों को मध्यस्थता का आदर्श ऐसे समय और ऐसे स्थानों पर विकसित हुआ जहां तीसरे पक्ष ने विवाद में हस्तक्षेप किया और उसके पास पर्याप्त प्रभाव और शक्ति निर्णयों को लागू कराने की थी। फिरौतर का निर्देश राज्य के हस्तक्षेप से है। व्यक्तिगत हानि, जनहानि हो गई जो इस प्रक्रिया के लिए सहायक हुई, जिसके निर्णय देने को राज्य का कार्य बना दिया[4]। किसी न किसी रूप में स्थानीय साधारण जनों की सहभागिता विवादों के समाधान के लिये ढंग और पद्धति के रूप में सदैव वर्तमान रही है। ब्रिटिश न्याय पद्धति के आगमन के पूर्व निःसंदेह रूप से इस देश में विवादों को निपटारे के लिये देशज पद्धति वर्तमान रही है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रभाव न्याय की ब्रिटिश प्रणाली और पाश्चात्य विधि का सार्वभौम युक्ति में सम्मिलित रूप से किसी भी प्राचीन वस्तु के विरुद्ध एक पूर्व धारणा उत्पन्न कर दे है। फिर भी देशज प्रणाली की खोज और मूल्यांकन के प्रयत्न करते समय यह ज्ञात हुआ कि प्राचीन प्रणाली के आवश्यक तत्व वर्तमान प्रणाली से बहुत अधिक भिन्न नहीं थे। दोनों प्रणालियों की तुलना करते समय यह स्वीकार किया गया कि वर्तमान प्रणाली की आनुसंगिक विशेषता यह है कि इसमें बोझिल प्रक्रिया सम्मिलित है जो पहले सरल और कम औपचारिक था इसमें संदेह नहीं कि जैसे-जैसे समाज में एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर पग बढ़ाये इसकी आवश्यकताओं समयानुसार बदलती रही। और कोई भी प्रणाली जो समाज के क्रियाकलापों या इसके किसी अंग के क्रियाकलापों को शासित करती है, उसमें भी प्रगतिवादी उपान्तर होना चाहिये[6]। आधुनिक प्रणाली की रूपरेखा निश्चित करते समय समाज की जिसके लिये प्रणाली बनाई जाने वाली है, दशा और संरचना में जो भी परिवर्तन हुए हैं उन्हें ध्यान में रखना होगा।

भारत में देशज प्रणाली

1. न्याय पंचायत पर अध्ययन देने की रिपोर्ट भारत सरकार—विधि मंत्रालय, अप्रैल, 1962 अध्याय 3, अनु० 16, पृष्ठ 29।
2. देखें कलसैन कुल सार : पीपुल्स असेसर्ज इन दा कोर्टज : अ स्टडी आन सोशियालॉजी आफ लॉ 1982।
3. देखें पृष्ठ 17।
4. देखें पृष्ठ 18।
5. विधि आयोग—14वीं रिपोर्ट, अध्याय 4, अनु० 5, पृ. 25।
6. देखें पृष्ठ 25।

अध्याय 3

न्याय पंचायत

न्याय पंचायत का इतिहास।

3.1 हमें हिन्दू प्रणाली, मुस्लिम प्रणाली, राजसी अधिकरणों आदि को छोड़कर न्याय पंचायतों पर विचार करना चाहिये जो प्राचीन काल से हैं। मुगल काल के पूर्व ग्रामों में अपनी पंचायतें होती थीं। इसमें निर्वाचन जैसी कोई चीज नहीं थी। ग्राम के आदर योग्य व्यक्तियों की पंचायत होती थी और निर्णय साधारणतया ग्राम के लोगों द्वारा मान्य होते थे। कोई-कोई विवाद ही न्यायालयों में जाते थे। ये विवाद अधिकांशतः समझौता कराने की प्रक्रिया से ही गांव में ही तय हो जाते थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मुगल काल में न्याय प्रणाली के केन्द्रीकरण का कुछ प्रयास किया गया था किन्तु अंग्रेजों ने अनुभव किया कि पंचायत प्रणाली से लोगों का कुछ भावात्मक लगाव था और यह न्यायिक प्रणाली प्रशासन के विकेन्द्रीकरण का विश्वसनीय आधार हो सकता है। भारत के विकेन्द्रीकरण के लिये 1907 के रायल कमीशन की कुछ प्रशासकीय शक्तियों तथा छोटे सिविल और आपराधिक मुकदमों में अधिकारिता के साथ ग्राम पंचायतों को संगठित और विकसित करने की संस्तुति की थी[1]। पंचायतें ही भू-राजस्व संबंधी प्रशासन के लिये मुख्य तौर पर उत्तरदायी थीं। न्याय पंचायत नामक संस्था का प्रयोग विवादों के समाधान के लिये किया गया। ये न्याय पंचायतें अब भी किसी न किसी रूप में कहीं-कहीं क्रियाशील और अधिकतर स्थानों पर निष्क्रिय बनी हैं। सबसे पहले कानूनी मान्यता इसे विलेज कोर्टस एक्ट, 1888 के रूप में मिली। यह मान्यता मद्रास में प्राप्त हुई। आदर इस प्रकार के न्यायालयों द्वारा अत्यधिक सीमित अधिकारिता के होते हुए भी किया गया कार्य मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा बहुत सराहा गया और उसने आशा प्रकट की कि अधिक लोग ग्राम न्यायालयों की ओर जायेंगे। इस मद्रास के अधिनियम की ही भांति अन्य दूसरे कई प्रान्तों ने इसी प्रकार का अधिनियम अपनाया। 1924-25 की सिविल जस्टिस कमेटी ने कहा "ग्राम पंचायत—जिनमें विरोधी पक्षकारों के बीच मध्यस्थता उसी ग्राम के ग्रामीण करते थे—इस देश में किसी रूप में अति प्राचीन समय से वर्तमान थी और वे किसी तरह की जटिलता और व्यापक मशीनरी के बिना अपना कार्य सम्पन्न करती थी"। पंचायत का न्याय कार्य संबंधी क्रम उस प्रणाली का ही एक अंग था जो भारत और बर्मा में देशज प्रशासन का आधार स्मरणातीत काल से रहा है[2]।

न्याय पंचायतों पर अध्ययन दल की रिपोर्ट।

3.2 गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1935 के लागू होने के पश्चात् विभिन्न प्रान्तों ने जनतंत्रीय विकेन्द्रीकरण के अपने कार्यक्रम के अन्तर्गत पंचायतें जिनमें न्याय पंचायतें भी हैं, के पुनर्जीवन प्रदान करने या पुनर्शक्तिशाली बनाने के लिये अधिनियम पारित किये। भारत सरकार ने विधि आयोग के एक सदस्य श्री जी० आर० राजगोपाल की अध्यक्षता में अनेक राज्यों में कार्यरत पंचायत न्यायालयों के कार्यों का अध्ययन करने के लिये विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट के अध्याय 43 में दिये निष्कर्षों के अनुसार एक अध्ययन दल की नियुक्ति की थी। अध्ययन दल ने अपनी रिपोर्ट दी। इसने अन्य बातों के अतिरिक्त संस्तुति की कि ग्रामों को न्याय पंचायत सदस्यों के निर्वाचन में खुली छूट मिलनी चाहिये। इसने नामांकित करने की प्रणाली को कोई स्थान नहीं दिया। न्याय पंचायतों को विवादों को निपटाने के लिये स्वैच्छिक प्रणाली के सुझाव को अमान्य करते हुये इसने संस्तुति की कि न्याय पंचायतों की अधिकारिता एकान्तिक होनी चाहिये। किन्तु प्रथम चरण में इसे सरल, धन संबंधी और अन्य मुकदमों तक ही सीमित रहना चाहिये और ऊपर की धन संबंधी सीमा 250 रुपये तक की सिविल अधिकारिता जो पक्षकारों की सहमति से 500 रुपये तक हो सकती है, प्राप्त होनी चाहिये। यह वैवाहिक विवादों की अधिकारिता प्रदान किये जाने के पक्ष में

1. भारत की विधि आयोग—14वीं रिपोर्ट, भाग 2, अध्याय 43, अनुच्छेद 3, पृष्ठ 874।
2. भारत की विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट, भाग 2, के पृष्ठ 874 पर उद्धृत।

नहीं थी। इसने आपराधिक मामलों में भी अधिकारिता दिये जाने की संस्तुति की थी। ये आपराधिक मामले छोटे होने चाहियें थे, जिनमें सजा या दंड शुल्क के रूप में ही दिया जा सकता था। यह न्याय पंचायतों को भू-राजस्व संबंधी अधिकारिता देने के पक्ष में नहीं था। इसने विवादों के समाधान के लिये समझौते की ही पद्धति के लागू करने का पक्ष लिया। ये विवाद भी न्याय पंचायत के विवेक के ही आधार पर उसके द्वारा लिये जाने थे। उस समिति ने अपनी संस्तुति को औपचारिक रूप देने के लिये एक विधेयक भी तैयार किया जिसे न्याय पंचायत विधेयक, 1962 कहा गया।

गुजरात सरकार द्वारा नियुक्त पंचायती राज समिति और विधिक सहायता समिति की संस्तुतियां।

3.3 गुजरात सरकार ने एक समिति की नियुक्ति की जिसे हाई लेविल कमेटी आन पंचायत राज कहा गया। इसने अपनी रिपोर्ट 1972 में दी। न्याय पंचायतों की चर्चा इसके रिपोर्ट के अध्याय 13 में की गई है। इस रिपोर्ट पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि लीगल एड कमेटी 1971 जिसे गुजरात सरकार ने गुजरात उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री पी० एन० भगवती की अध्यक्षता में नियुक्त की थी, की रिपोर्ट में न्याय पंचायतों संबंधी अध्याय पर विचार कर लेना चाहिये। कमेटी ने एक नये नमूने का न्याय पंचायतों का संस्तुति की जिसमें पंचायत राज न्यायाधीश और उसकी सहायता के लिये जिले के कलेक्टर के द्वारा बनाये गये पैनल में से दो सदस्य, कुल तीन व्यक्ति सदस्य होंगे। इसने सुझाव दिया कि जहां तक संभव हो पंचायत राज न्यायाधीश और इसके दो अन्य सदस्यों द्वारा विवादों का निपटारा उसी स्थान पर ही किया जाये। इसने सरल प्रक्रिया, जो सरल हो तथा न्याय, साम्या और सद्विचार से निर्दिष्ट हो, की संस्तुति की। इसमें अनेक शब्दों में यह कहा कि प्रक्रिया सरल और सुलझी हुई होनी चाहिये और इसे तकनीकियों और दुरूहताओं से आच्छादित नहीं होना चाहिये। पंचायत राज कमेटी करीब-करीब लीगल एड कमेटी की संस्तुतियों से सहमत थी। सिवाय इसके कि यह कलेक्टर द्वारा दो सदस्यों के नामांकन के विरुद्ध थी और इसके निर्वाचन का पक्ष लिया था।

न्याय पंचायतों को फिर से लागू करना न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता का सर्वोत्तम दृष्टांत।

3.4 एतिहासिक दृष्टि से लोकप्रिय न्याय पंचायतों की संस्था को फिर से जीवित करना और फिर से शक्तिशाली बनाने का अधिक अच्छा तर्क न्यायिक प्रशासन में जनता की सहभागिता के लिये नहीं दिया जा सकता है।

ग्राम पंचायत प्रणाली को लेकर आशंकाओं का निराकरण।

3.5 हमको इसी स्थान पर पूर्व विधि आयोगों द्वारा न्याय पंचायतों को विस्तृत अधिकारिता प्रदान किये जाने को लेकर प्रकट की गई आशंकाओं की चर्चा कर लेनी चाहिये। सिविल जस्टिस कमेटी (1924-25) ने कहा "साम्प्रदायिक मतभेद और गुट इन अधिकरणों को अब अधिक अधिकारिता प्रदान किये जाने में बाधा है। इस आपत्ति में कुछ बल है। किन्तु हमारी राय में इसे कुछ ज्यादा ही समझ लिया गया है। ग्रामों में जहां समान हितों की रक्षा की जाती है, समान सेवायें की जाती हैं और समान कोष को व्यय करना है वहां ग्राम के समान जीवन के उस पक्ष को अनदेखी कर देना उचित नहीं है जिसमें पड़ौसी की आवश्यकताओं ने उनकी स्वयं की आवश्यकताओं या जाति भेद को गौण बना दिया है।[1] विधि आयोग ने अपनी 14वीं रिपोर्ट में इस बात को ध्यान में रखकर आगे भी कहा कि ये गुट बंदी और विभाजन समग्र देश में वयस्क मताधिकार के प्रचलन राजनैतिक दलों के प्रकटीकरण के पश्चात् और भी गहरा हुआ है। इस आलोचना को अमान्य करते हुये तथा आशंकाओं का निराकरण करते हुये विधि आयोग ने निष्कर्ष निकाला कि कोई भी कारण नहीं है कि समुचित सुरक्षात्मक उपायों के पश्चात् ये न्यायालय (न्याय पंचायतें) सरलता के साथ कार्य न कर सकें या ग्रामों में उत्पन्न साधारण विवादों को समझौता द्वारा या निर्णय द्वारा न निपटा सकें[2]। इसी तरह लीगल एड कमेटी ने (विधिक सहायता समिति) जिसे गुजरात सरकार ने

1. सिविल जस्टिस कमेटी की रिपोर्ट पृष्ठ 116 जिसे भारत के विधि आयोग ने 14वीं रिपोर्ट भाग 2, अध्याय 43, अनुच्छेद 7, पृष्ठ 876 पर उद्धृत किया है।
2. भारत के विधि आयोग की 14वीं रिपोर्ट अध्याय 43, अनुच्छेद 25, पृष्ठ 911 और 912।

नियुक्त किया था, ग्रामों के गुटबंदी से भरे जीवन जिसे जाति, वर्ग और राजनीति ने और अधिक बांट दिया है—का अध्ययन किया है और वास्तविक आशंका प्रकट की है कि "न्याय पंचायत के सदस्यों द्वारा समानता पूर्ण न्याय किये जाने की आशा करना कठिन है"—क्योंकि उनमें से प्रत्येक किसी न किसी गुट या वर्ग से संबंधित है[1]। ये प्रतिबद्धतायें इस शक्तिशाली विचार के आगे गौण हो गई कि न्याय पंचायतों का संरचना में तनिक सा परिवर्तन करने मात्र से, स्थान पर ही न्याय या वादकारी के द्वार पर ही न्याय करने का प्रभावशाली माध्यम बन सकता है। इसका ग्रामों की आर्थिक दशा पर स्वस्थ प्रभाव होगा क्योंकि यह कम खर्चीला न्याय होगा और न्याय प्राप्त करने में नष्ट होने वाले मानव दिन को भी बचत होगा। ग्रामीण निर्धनों में किसी बाहरी प्रणाली द्वारा न्याय किये जाने को बजाय अपने ही लोगों द्वारा न्याय होने से उनमें ऐसा मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आयेगा जिसका तुलना नहीं की जा सकती है। उन पर विश्वास करें, संभावित गलतियों से बचने के लिये सुरक्षात्मक उपाय करें लेकिन उनका तिरस्कार न करें। कोई भी नया परिवर्तन अकल्पनीय खतरों से सदैव भरा रहता है, किन्तु इसी कारण यह परिवर्तन के मार्ग में बाधा नहीं बन सकता है।

राजगोपाल समिति द्वारा निर्मित न्याय पंचायतें।

3.6 राजगोपाल समिति ने भी इन सभी आशंकाओं को ध्यान में रख कर भी न्याय पंचायतों को बनाये रखने और उन्हें पुनः शक्तिशाली बनाने की जोरदार वकालत की थी।

1. लीगल ऐड कमेटी 1971 गुजरात सरकार की रिपोर्ट पृष्ठ 211, अनुच्छेद 13.14, पृष्ठ 211।

से तुरन्त ही तैयार किया जा सकता है अन्य दूसरे मामलों में भी न्याय पंचायत स्थानीय अधिकारी जैसे भू-राजस्व विभाग और विकास विभाग जिसको अपने निर्णय के अनुसार या आदेश के अनुसार प्रभावशाली ढंग से निष्पादन करने में आवश्यकता है, सहायता ले सकते है।

न्याय पंचायत की सिविल अधिकारिता।

4.11 ऐसी न्यायपंचायतों को अधिकारिता उन सभी विवादों के लिये होगी जिनके शीर्षक अनुच्छेद 2.7 में उल्लिखित है, न्याय पंचायतों को विस्तृत अधिकारिता प्रदान किये जाने के पीछे यह कहा जा सकता है कि विधि आयोग ने अपने 14वीं रिपोर्ट में यह संस्तुति की थी कि पंचायतों को सिविल अधिकारिता 200/- रु० या 250/- रु० होनी चाहिये और उच्च न्यायालय के अनुमोदन से यह 500/- रु० तक बढ़ाई जा सकती थी। यदि 1954 में रुपये के मूल्य से तुलना वर्तमान मूल्य से की जाय तो यह अधिकारिता 10,000/- रु० मूल्य तक प्रदान की जा सकती है। अतः यह सबसे अच्छा है कि अधिकारिता के लिये धन संबंधी सीमा न रखी जाये और उन सभी विवादों पर न्याय पंचायतों का अधिकारिता रहे जो आगे उल्लिखित शीर्षकों के अन्तर्गत आते है।

न्याय पंचायतों की दांडिक अधिकारिता।

4.12 इसी प्रकार दाण्डिक अधिकारिता के बारे में भी, विधि आयोग ने अपनी 14वीं रिपोर्ट में संस्तुति की थी कि न्याय पंचायतों को 50/- रु० तक का अर्थ दंड लगाने की अधिकारिता होनी चाहिये। उस प्रकार के प्रतिस्थान को लागू करने पर इसे वह सभी अधिकारिता होनी चाहिये जो पहले प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को छोटे अपराधों का सुनवाई करने के लिये प्राप्त थी और इसे सजा देने की शक्ति भी प्राप्त होना चाहिये। यह परिवर्तन अब वांछनीय है, क्योंकि न्याय पंचायत में अब विधि प्रशिक्षित न्यायाधीश भी होगा।

विवादों के समाधान के लिये सरल प्रक्रिया

4.13 विवादों की सुनवाई करते समय न्यायाधीश साक्ष्य का मूल्यांकन और आलोचना करेंगे और पंचायत राज न्यायाधीश कानून के सरल और सुसंगत सिद्धांतों से सहायता करेगा। साधारणतया न्याय पंचायत का यह प्रयत्न होगा कि विवादों पर निर्णय सहमति से हो। बहुमत के निर्णय को अमान्य नहीं ठहराया जाना चाहिये। निर्णय सरल भाषा में दिया जाना चाहिये जिसमें संक्षिप्त कारण दिये गये हों।

वकीलों की उपस्थिति अवांछनीय मानी गई।

4.14 जब विवाद न्याय पंचायत के समक्ष विचाराधीन हो तो साधारणतया पक्षकारों को वकील को नियुक्त करने से अनुत्साहित किया जाना चाहिए, किन्तु यदि कोई पक्षकार किसी वकील को नियुक्त करना ही चाहता है तो वकील के माध्यम से उसकी बात सुनी जानी चाहिए। यह बात आवश्यक है कि उसके कारण किसी प्रकार सुनवाई नहीं टाली जानी चाहिए और न वकील के कारण सुनवाई का स्थान ही हटाया जाना चाहिए।

पंचायत न्यायालय के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण।

4.15 यद्यपि भारत के विधि आयोग ने अपनी चौहदवीं रिपोर्ट में न्याय पंचायत के आदेश या निर्णय के विरुद्ध अपील या पुनरीक्षण के सुझाव को नहीं माना था किन्तु यह आवश्यक है कि जिला न्यायालय को पुनरीक्षण याचिका का एक बार विधि की त्रुटियों को सुधारने के लिए प्रावधान किया जाना चाहिए।

जहां सहभागिता वाले न्यायालय सफल हैं, उन क्षेत्रों का अपवर्जन।

4.16 इस समय आनन्द निकेतन आश्रम में रंगपुर में जिसके अंतर्गत बहुत से ताल्लुके आते हैं और जहां स्वैच्छिक लोक अदालत सफलता पूर्वक काम कर रही है, एक अनोखा प्रयोग किया जा रहा है, इसका आरम्भ श्री हरि वल्लभ पारिख द्वारा किया गया। इसी प्रकार का दूसरा प्रयोग थोड़े से परिवर्तन के साथ धोलका ताल्लुका में किया जा रहा है इसका प्रारंभ रविशंकर महाराज और मुनि संत बाल जी द्वारा किया गया था। यदि ऐसे स्थानों को लोग, जहां इस प्रकार के सफल प्रयोग किए जा रहे हैं, जिनमें न्यायिक प्रशासन जनता की सहभागिता है, इच्छा करते हैं या अधिकारीगण ऐसे क्षेत्रों को न्याय पंचायत की सीमा से बाहर रखना चाहते हैं तो उसका अपवर्जन हो सकता है। गुजरात में लोक अदालतें द्वारा प्राप्त प्रेरणा से, जो इस समय स्थानीय विधिक सहायता समिति द्वारा स्वेच्छा से किया जा रहा है कुछ और लोक अदालतें उत्तर प्रदेश में बुलाई गयीं। दिल्ली में मोटर दुर्घटना

1. देखें यू. बक्शी, फाम टकर टू करार द लोक अदालत ऐट रंगपुर प्रीलिमिनेरी स्टडी एंड पार्लीमेन्टरी 10 जर्नल ऑफ कांस्टीट्यूशनल स्टडीज, 1976 पृष्ठ 54

के शिकार व्यक्तियों के दावों को निपटाने के लिए एक लोक अदालत बुलाई गयी, जिसकी अध्यक्षता दिल्ली उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश ने की थी। ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि इसे ठोस रूप और आकार दिया जाए।

जिला न्यायालय में अपीलों पर संकोच।

4.17 ऐसी आशा की जाती है कि बहुत बड़ी संख्या में विवादों को निपटाया जाएगा और जिला न्यायालय को जहां से अपीलें प्राप्त होती हैं वह बहुत कम हो जाएंगी इसका परिणाम यह होगा कि जिला न्यायालयों में बकाया मुकदमों की संख्या कम होगी इसके परिणामस्वरूप उच्च न्यायालयों की संख्या कम होगी।

विचारों का आमंत्रण।

4.18 विधि आयोग इस विषय पर विचारों और टीकाओं को आमन्त्रित करता है जिसमें इस प्रश्न पर सुनिश्चित विचार होना चाहिए कि क्या न्याय पंचायत लोक अदालत, जन पंचायत, पीपुल्स कोर्ट्स को ग्राम और अर्ध शहरी क्षेत्रों में गठित किया जाना आवश्यक है? क्या इसका गठन ऊपर के अनुच्छेदों में चर्चित रूपरेखा के अनुसार ही होना चाहिए?

परिशिष्ट 2

दिल्ली—18 और 19 जनवरी, 1986

भाग लेने वाले

1. श्री जी० आर० राजगोपाल
2. न्या० मू० वी०आर० कृष्णमूर्ति अय्यर
3. न्यायमूर्ति ओ० चेन्नप्पारेड्डी
4. प्रो० उपेन्द्र बक्शी
5. न्या० मू० एम० एल० जैन
6. प्रो० एच० आर० माधव मेनन
7. प्रो० जे० एस० गांधी
8. श्री एस एस वत्स
9. श्रीमति खुल्लर—डी० एस०, योजना आयोग
10. श्री पुन्नु स्वामी
11. श्री शिव रामैया—विधि संकाय
12. श्री बोस—विधि संकाय
13. श्रीमती स्वरुप, डी०एस० योजना आयोग
14. श्री एम पी० सिंह
15. श्रीमती कपिला हिंगोरानी—एडवोकेट
16. न्या० मू० राजिन्दर सच्चर
17. श्री पवन चौधरी—एडवोकेट
18. श्रीमती जोसे वर्गीस
19. श्री के०एस० शर्मा—ज० ने० वि० वि०
20. श्री डी०पी० मलहोत्रा
21. श्री के०एस० शुक्ल—इंडियन इस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन
22. श्रीमती चन्द्रमणी चोपड़ा—एडवोकेट—अध्यापिका
23. डा० सुन्दरम्—संयुक्त निदेशक—योजना आयोग
24. श्रीमती पिंकी आनंद—एडवोकेट
25. श्रीमती उर्मिला कपूर—एडवोकेट—उच्चतम न्यायालय
26. श्री एस० एन० कपूर—अतिरिक्त जिला एवं सत्र न्यायाधीश
27. श्री गुप्ता
28. श्री रामानुज
29. श्री कृष्ण कुमार—एडवोकेट
30. प्रो० ए० के० कौल
31. श्री ओ० पी० शुक्ल
32. श्री कृष्ण कुमार महाजन, पत्रकार
33. श्री पी०डी०मैथ्यू
34. प्रो० मोहन्ती

35. श्री पांडे
36. श्री कटेश्वर, विधि के तृतीय वर्ष के छात्र
37. श्री इरोवी
38. श्रीमती उषा कुमार, एडवोकेट
39. श्रीमती मेसी, वादकारी

सलेम, 1 और 2 फरवरी, 1986

1. प्रो० आर०वी० धनपालन, सेन्ट्रल ला कालेज
2. न्या० मू० एस०टी०रामलिंगम्, न्यायाधीश मद्रास उच्च न्यायालय
3. श्री के० ए० पलानिस्वामी, एडवोकेट
4. श्री आर० मनिक्कम, मुख्य महानगरीय मजिस्ट्रेट, मद्रास
5. श्री ए० पी० चिन्नास्वामी, एडवोकेट
6. श्री बेन्नियार अडिलगालार, सामाजिक कार्यकर्ता
7. श्री डी० मंगप्पा, आई० ए० एस०
8. श्री हेनरी त्यागराज, मद्रास
9. श्री थंगमणि, जिला एवं सत्र न्यायाधीश
10. श्री एस० पद्मनाभन, एडवोकेट मद्रास
11. श्रीमती आशालता, एडवोकेट मद्रास
12. कु० राधा श्री निवासन, एडवोकेट, मद्रास
13. श्री कल्याणम, सदस्य—गोल्ड कंट्रोल न्यायाधिकरण
14. श्री तुलसी दास, एडवोकेट
15. श्री थिरुमलै, एडवोकेट, मद्रास
16. श्री के० गोविन्दराजन, एडवोकेट मद्रास
17. श्री जी० नटराजन- एडवोकेट
18. श्री के० ए० पंचपकेशन, मद्रास
19. श्री कृष्ण कुमार, पांडिचेरी
20. श्री बी० अरुलापन
21. श्री आर० गांधी, अध्यक्ष—मद्रास उच्च न्यायालय बार एसोसियेशन, मद्रास
22. प्रो० डी० विजय नारायणन, रेड्डी, विधि विभाग, नागार्जुन विश्वविद्यालय
23. डी० के० एन० चन्द्रशेखरन, पिल्लै, रीडर विधि विभाग—कोचीन विश्वविद्यालय
24. प्रो० पी० एस० विश्वनाथन, सेन्ट्रल ला कालेज, सलेम—1

जयपुर : 1 और 2 मार्च, 1986

1. श्री डी०डी० आचार्य, मंत्री—सिंचाई, पावर और जनकार्य
2. श्री हरिदेव जोशी, मुख्य मंत्री—राजस्थान
3. न्या० मू० जी० एम० लोढ़ा
4. श्री देस नारायन धावनी, एडवोकेट
5. श्री एन० एल० जैन—महाधिवक्ता
6. श्री जय दीप धानकर, एडवोकेट
7. श्री मृदुल मधुर
8. डा० राघव प्रकाश

9. श्री रामकृष्ण काला – एडवोकेट
10. श्री एन० एस० एच० गुप्ता, प्रवक्ता ला कालेज
11. न्या०मू० एस०एन० भार्गव
12. श्री रमेश पुरोहित
13. श्री एस० एल० जैन
14. श्री सत्यव्रत
15. श्री धनी
16. श्री दुर्गापाल पोद्दार, एडवोकेट
17. श्री जे०पी० व्यास, सहायक प्रवक्ता विधि
18. श्री जी० एस० सिधुर, एडवोकेट
19. श्री पूत चंद खयावत
20. श्रीमती सुनीता सत्यार्थ – एडवोकेट
21. श्री एस०एन० शर्मा
22. प्रो० जी०एस० शर्मा
23. न्या० मू० दावें
24. श्री आर०एस० वर्मा
25. श्री उगम राज भंडारी, भू०पू० जि० और सत्र न्यायाधीश
26. श्रीमती कमला जैन
27. श्री आर० पी० पहवा, सहायक प्रवक्ता विधि
28. श्री एन० डी० शर्मा
29. प्रो० एस० के० खुम्बास
30. न्या० मू० एम० एल० श्रीमाल, लोक आयुक्त

वाराणसी : 15 और 16 मार्च, 1986

1. श्री उदय शंकर पांडेय
2. कृष्ण देव सिंह, एडवोकेट
3. श्री सुरेश प्रसाद
4. श्री प्रेम भाई
5. श्री नगेन्द्र प्रसाद सिंह
6. श्री सायर सिंह, एडवोकेट
7. श्री ए० एच० खां—रीडर विधि
8. श्री गौरी शंकर
9. श्री के० एन० वर्मा, एडवोकेट
10. डा० एम० पी० सिंह—रीडर विधि विभाग, का० हि० वि० वि०
11. श्री आर० एस० जायसवाल, प्रवक्ता ला स्कूल
12. डा० आर० ए० मालवीय
13. श्री वीरेन्द्र सिंह
14. श्री बी० एन० मोहिला
15. श्री गणेश दत्त दूबे, जिला न्यायाधीश
16. श्री शाह
17. प्रो० आर० के० मिश्र

18. श्री एस० एन० मिश्र
19. कु० आभा त्रिवेदी
20. श्री ए० बी० एल० श्रीवास्तव
21. श्री ब्रह्म प्रकाश, एडवोकेट
22. प्रो० कृष्ण बहादुर
23. श्री बी० एल० निर्मल
24. श्री धर्मपाल चतुर्वेदी
25. श्री सोम
26. श्री एस० के० सिंह
27. श्री डा० यू० सी० शुक्ल
28. प्रो० सत्येन्द्र त्रिपाठी
29. श्री आशा राम तिवारी प्रधान
30. श्री किशोर
31. श्री राम शंकर मौर्य
32. श्री डा० मुनीरुद्दीन लोहटा
33. श्री शिव नरायन लोहटा
34. श्री राम सूबे सिंह
35. श्री राम प्रधान
36. श्री सीताराम सिंह
37. श्री सुरेश प्रसाद
38. श्री लल्लन प्रसाद संघत

रांची : 22 और 23 मार्च, 1986

1. न्या० मू० एस० राय
2. श्री कामेश्वर प्रसाद, एडवोकेट
3. श्री ए० सहाय
4. डा० सच्चिदानंद, उप कुलपति—रांची वि० वि०
5. श्री आर० एन० त्रिवेदी, अध्यक्ष राजनीति विभाग, रांची वि० वि०
6. श्री प्रेम शंकर दयाल, एडवोकेट
7. न्या० मू० एम० एम० प्रसाद
8. श्री सरताज शर्मा
9. श्री विभूतनाथ सामंत
10. श्री एन० के० नारायण
11. श्री अर्जुन सिंह
12. श्री सी० डी० चौबे, एडवोकेट
13. श्री कामेश्वर नाथ एडवोकेट
14. श्री बाम पाती रूद्र
15. श्री सी० ए० गुरिया
16. श्री राजा जी और किरन गुरिया
17. श्री काले मुन्दर—सरपंच
18. श्री मासी प्रसाद गुरिया

19. श्री जकरिया पाहन
20. श्री एच० के० लाल
21. श्री अयोध्या सिंह वर्मा
22. डा० के० एन० सहाय
23. श्री पुरुषोत्तम दास सोनी
24. श्री भामंत—एडवोकेट
25. श्री नरेन्द्र किशोर नारायण
26. श्री अरविन्द प्रसाद
27. श्री रजनी कुमार सिंह, एडवोकेट
28. श्री जगत मणी महतो
29. श्री अश्वनी कुमार
30. श्री सुवर्शन पांडेय
31. श्री सत्येन्द्र सिंह न्यायाधीश—श्रम न्यायालय
32. श्री के० एन० गिरि
33. श्री आर० के० प्रसाद

कलकत्ता : 29 और 30 मार्च, 1986

1. न्या० मू० ए० के० सेन, न्यायाधीश—उच्च न्यायालय, कलकत्ता
2. डा० श्रीमती सरला घोष
3. श्री जी० आर० भट्टाचार्य, जिला न्यायाधीश, हावड़ा
4. श्री मंगलमय सरकार
5. श्री बी० के० दास, एडवोकेट
6. श्रीमती मीना दा, सचिव—निष्ठा
7. श्री प्रवीर कुमार गुप्त, अपर मजिस्ट्रेट, उत्तर 24 परगना
8. श्री मोती लाल बेरा, स्कूल अध्यापक
9. श्री पी० दत्ता, सहायक विधि परामर्शी प० बंगाल
10. श्री गोवर्धन महाचार्य
11. श्री सुधीर मंडल, सचिव बी० यू० पी०
12. श्री ए० बी० सिंह, एडवोकेट, रांची
13. श्री विश्वनाथ बाजपेयी, एडवोकेट
14. न्या० मू० एम० एम० दत्त, न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय
15. श्रीमती शांति दत्त, प्रिंसिपल
16. श्री बंकिम मुखोपाध्याय, अवैतनिक निदेशक, बी० मू० पी०
17. डा० एल० के० खानरा, कलकत्ता
18. श्री राम किशोर प्रसाद, एडवोकेट
19. श्री० ए. के० मित्रा

20. न्या० मू० आर० एन० दैना न्यायाधीश उच्च न्यायालय, कलकत्ता
21. प्रो० सच्चिदानंद मैती, मिदनापुर
22. डा० सुधेन्दु मुखर्जी
23. प्रो० गिरि नाथ गांगुली, ला कालेज, कलकत्ता
24. श्री रविन्द्र नाथ राय चौधरी, हावड़ा
25. श्री के० एन० राठी, पुरुलिया
26. श्री राजेन्द्र भूषण नंदी
27. श्री अभिय कुमार साहा
28. प्रो० श्रीमती आरती गांगुली
29. से 36. वादकारी (महिलायें)
37. न्या० मु० बी० पी० बनर्जी, न्यायाधीश उच्च न्यायालय, कलकत्ता
38. श्री विकास चन्द्र घोष, पूर्व मुख्य न्यायाधीश
39. श्री अश्वनी कुमार सिन्हा, एडवोकेट, रांची
40. श्री सत्येन्द्र सिंह—न्यायाधीश, श्रम न्यायालय, रांची
41. न्या० मू० मुकुल गोपाल बनर्जी,
न्या० कलकत्ता उच्च न्यायालय

इन्दौर : 5 और 6 अप्रैल, 1986

1. श्री जोशी, अध्यक्ष, उच्च न्यायालय बार एसोसिएशन
2. डा० मनोहर लाल दलाल
3. न्या० मू० आर० के० वर्मा, न्यायाधीश उ० न्या० पीठ, इन्दौर
4. श्री एम० ए० खान, एडवोकेट
5. श्री न्या० मू० मौले, उच्च न्यायालय पीठ, इन्दौर
6. श्री के० एल० सेहती, एडवोकेट
7. श्री पी० जी० धनिक हंडी, एडवोकेट
8. श्री डी० एम० कुलकर्णी, एडवोकेट
9. श्री भगवंत कुलकर्णी, एडवोकेट
10. श्री एस० के० गंगेले, एडवोकेट
11. डा० यू० आर० के० राव
12. श्री इस सी० कंसल

13. न्या० मु० ज्ञानी, न्यायाधीश उच्च न्यायालय पीठ
14. प्रो० यू० सी० कासलीवाल
15. श्री सी० एस० छाणे
16. श्री एम० डी० आर्य, एडवोकेट
17. श्रीमती एस० जोशी, एडवोकेट
18. श्री एस० जोशी, शासकीय एडवोकेट

क—राज्य सरकार

1. राजस्थान सरकार (न्यायिक विभाग)
2. राज्य विधि आयोग, मेघालय सरकार
3. मेघालय सरकार (विधि विभाग)
4. उड़ीसा सरकार (विधि विभाग)
5. कर्नाटक सरकार (विधि और संसदीय कार्य कलाप विभाग)
6. मध्य प्रदेश सरकार (विधि और विधायी विभाग)
7. मिजोरम सरकार (विधि और न्यायिक विभाग)
8. पंजाब सरकार (विधि और विधायिका कार्यकलाप विभाग)
9. बिहार सरकार (विधि विभाग)
10. अरुणाचल प्रदेश सरकार (विधि और न्याय विभाग)
11. महाराष्ट्र सरकार (विधि और न्याय विभाग)
12. केरल सरकार (विधि विभाग)
13. आंध्र प्रदेश सरकार (विधि विभाग)
14. जम्मू और कश्मीर सरकार (विधि विभाग)

ख—उच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश

1. न्या० मु० पी० बी० सावंत,
   उच्च न्यायालय बम्बई
2. न्या० मु० कमलेश्वर नाथ,
   इलाहाबाद उच्च न्यायालय
3. उच्च न्यायालय उड़ीसा
4. न्या० मु० गुमान मल लोढ़ा,
   राजस्थान उच्च न्यायालय
5. न्या० मु० बी० एस० दवे,
   राजस्थान उच्च न्यायालय
6. गुजरात उच्च न्यायालय
7. उच्च न्यायालय, मद्रास
8. न्या० मु० एस० टी० रामलियम्,
   उच्च न्यायालय, मद्रास
9. न्या० मु० ए० रघुवीर,
   उच्च न्यायालय, आंध्र प्रदेश
10. न्या० मु० डेविड अन्नास्वामी,
    मद्रास उच्च न्यायालय
11. न्या० मु० गुलाब चन्द्र गुप्त,
    मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर

12. न्या० मू० पी० सी० जैन,
राजस्थान उच्च न्यायालय, जयपुर
13. न्या० मू० के० एन० मिश्रा
इलाहाबाद उच्च न्यायालय
14. न्या० मू० जे० आर० चोपड़ा,
राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर
15. न्या० मू० एस० एम० जैन,
राजस्थान उच्च न्यायालय, जोधपुर

ग—जिला न्यायाधीश

1. श्री एम० एस० बेंद्रे
जिला और सत्र न्यायाधीश, अकोला (महाराष्ट्र)
2. श्री एच० बी० पवाते,
जिला और सत्र न्यायाधीश, जलगांव (महाराष्ट्र)
3. श्री ए० बी० पालकर,
जिला और सत्र न्यायाधीश, शोलापुर (महाराष्ट्र)
4. श्री पी० एन० एस० चौहान,
जिला और सत्र न्यायाधीश, मंदसौर (म० प्रदेश)
5. श्री बी० एन० आपट,
जिला और सत्र न्या०, रत्नागिरी (महाराष्ट्र)
6. श्री के० के० वर्मा,
जि० और सत्र न्या० बालाघाट (म० प्रदेश)
7. जिला और सत्र न्यायाधीश, इन्दौर (म० प्रदेश)
8. श्री वी० ए० कंकणवाडी,
जि० और सत्र न्या०, सतारा (महाराष्ट्र)
9. श्री पी० बी० निगुडकर,
जि० और सत्र न्या०, डाणे (महाराष्ट्र)
10. श्री आर० पी० अवस्थी,
जि० और सत्र न्या० दमोह (म० प्रदेश)
11. श्री जी० बी० नाम जोशी,
तृतीय अतिरिक्त न्यायाधीश (दमोह)
12. श्री जी० के० कुलश्रेष्ठ,
जि० और सत्र न्यायाधीश, विदिशा, म० प्रदेश
13. श्री एस० एस० पामी,
जि० और सत्र न्या०, अहमदनगर, (महाराष्ट्र)
14. श्री प्रकाश मेहरा,
जि० और सत्र न्या०, बिलासपुर (म० प्रदेश)
15. श्री एम० बी० मजूमदार,
जि० और सत्र न्या०, सांगली (महाराष्ट्र)
16. श्री बी० एन० निम्बलाकर,
जि० और सत्र न्या०, परभनी (महा)
17. श्री बी० के० आवरे,
द्वितीय अतिरिक्त जि० और सत्र न्या०, (परभनी)

18. श्री पी० पी० बाफना,
अतिरिक्त जि० और सत्र न्यायालय,
परभनी (महा०)
19. श्री रंगनाथ रथ,
जि० और सत्र न्या०
ढानकनाल (उड़ीसा)
20. श्री सुन्दर लाल मेहता,
न्यायाधीश—परिवार न्यायालय,
जयपुर

क—बार कौंसिल और बार एसोसियेशन

1. सांगली बार एसोसिएयेशन, सांगली
2. बार एसोसियेशन, जयपुर
3. बार कौंसिल आफ उड़ीसा, भुवनेश्वर
4. बार एसोसियेशन खरई—सागर
5. बार एसोसियेशन कवाथ—महाकाल
जि० सांगली
6. बार कौंसिल आफ मिलनाड़, मद्रास
7. सतारा जिला बार एसोसियेशन, सतारा
8. कुडडलोर बार एसोसियेशन, कुडडलोर
9. बार एसोसियेशन तिरूचेंगोडु
जि० सलेम—तमिलनाडु
10. सलेम बार एसोसियेशन सलेम
11. बार एसोसियशन—तिरुवल्लुर
12. बार एसोसियशन—सागर

ख—अधिवक्तागण

1. श्री एच० ए० खान, इन्दौर (म० प्रदेश)
2. श्री उगमराज भंडारी, जयपुर
3. श्री आर० आर० प्रसाद, रांची
4. श्री वी० एम० तारकुंडे, नई दिल्ली
5. श्री जी० एल० संघी, नई दिल्ली
6. श्री एस० के० सुन्दरम्, मद्रास
7. श्री ओ० लिंगरेड्डी, गुन्टूर (आ० प्र०)
8. श्री ए० सी० पाठक, मवदहोरा, मडांच—गुजरात
9. श्री श्याम सुन्दर, सलोन
10. श्री महाबलेश्वर मोरजे—बम्बई
11. श्री के० एन० वर्मा, वाराणसी

ग—संस्थाएं

1. राजस्थान जुडिसियल सर्विसेज आफिसर्स एसोसियेशन, जयपुर

2. प्रोग्रेसिव लॉ एसोसियेशन, बम्बई
3. इन्स्टीट्यूट आफ पब्लिक अफेयर्स, मधुबन
4. इंडियन प्रोसीजरल ला ओरियेन्टेशन एसोसियेशन, सांगली
5. आ० प्र० डेमोक्रेटिक लायर्स एसोसियेशन, हैदराबाद
6. यूनाईटेड आर्टिस्ट्स एसोसियेशन, गंजाम—उड़ीसा
7. कॉमन कॉज—नई दिल्ली
8. ग्रेटर इंडिया लीग, बंगलौर
9. दिल्ली हिन्दुस्तानी मर्केन्टाइल एसोसियेशन, दिल्ली
10. हरियाणा लीगल ऐड टू पुअर कमेटी, चंडीगढ़
11. आल इंडिया अम्बेडकर पीपुल्स मूवमेन्ट
12. सोशल एक्शन लीगल इन्टेरस्ट लिटिगेशन, रांची
13. आल इंडिया फेडरेशन ऑफ शेड्यूल्ड कास्ट एंड ट्राइबल्स, बैंकवर्डस् एंड माइनारिटिज एम्पलाइज वलफेयर एसोसिएशन, नई दिल्ली
14. संजीवैया इंस्टीट्यूट आफ सोशियो इकोनामिक स्टडीज, नई दिल्ली

ङ; —अभित

1. श्री फिरोज श्रमरोलीवाला, बम्बई
2. श्री के० पी० एस० महलवार और श्री पी० सी० जुनेजा महर्षि दयानंद वि० वि० रोहतक (हरियाणा)
3. श्री राम मोहन तिवारी, पाली, रांची
4. डा० एम० नारायण स्वामी, मद्रास
5. श्री एच० डी सूरी, नई दिल्ली
6. डा० पारस दीवान, चंडीगढ़
7. श्री धरम पाल मेहता, फरीदाबाद
8. श्री शमशाद अहमद, लखनऊ

MGIPRRND—2 L. & J/86—Sec. VI Day—20-8-87—400